कल्याण



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीता-राम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०१४, मार्च १९५८

चित्र-सूची

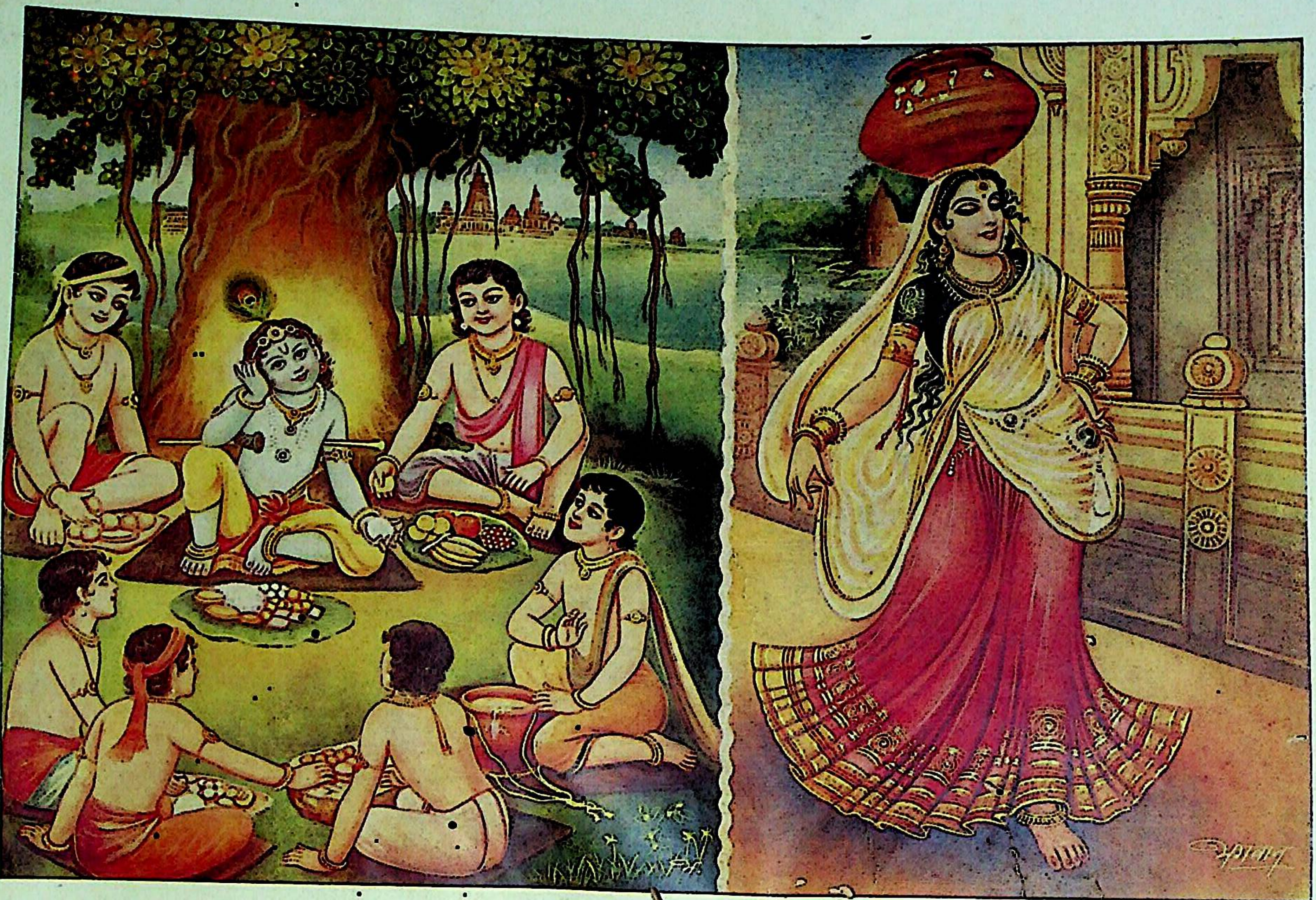
तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≋) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



सखाओंके साथ वनभोजनमें

प्रेमविह्वला गोपी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१४, मार्च १९५८ { संख्या ३ पूर्ण संख्या ३७६

ग्वाल-मण्डलीमें मोहन

ग्वाल मंडली मैं बैठे मोहन बट की छाँह, दुपहर बेरिया सखानि संग लीने ।
एक दूध, फल, एक झगरि चबेना लेत, निज निज कामरी के आसननि कीने ॥
जेंवतऽरु गावत हैं सारँग की तान कान्ह, सखनि के मध्य छाक लेत कर छीने ।
सूरदास प्रभु कौं निरखि, सुख रीझि रीझि, सुर सुमननि बरषत रस भीने ॥

याद रक्खो—तुम सच्चिदानन्दघन परमात्माके सनातन अंश, स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा हो। जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, ह्रास-वृद्धि—ये सब शरीरके धर्म हैं। तुम्हारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम न जन्मते हो न मरते हो, न बूढ़े होते हो न बीमार होते हो, न बढ़ते हो न घटते हो। तुम तो सदा एकरस हो; भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालोंमें और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों अवस्थाओंमें सम और एकरूप हो।

याद रक्खो—समस्त चराचर जगत् आत्मामें है और आत्मा समस्त चराचर जगत्में व्याप्त है। वह अविकारी सर्वभेदरहित आत्मा तुम हो।

याद रक्खो—मैं-तू, मेरा-तेरा, आकाश-पाताल, पशु-पक्षी, वृक्ष-पर्वत, सुर-असुर, मानव-दानव आदि दृश्यमान सभी प्रपञ्च मायाका विस्तार है। वस्तुतः आत्माके सिवा और कुछ है ही नहीं और वह नित्य सनातन आत्मा तुम हो।

याद रक्खो—तुममें न हानि है न लाभ, न मान है न अपमान, न स्तुति है न निन्दा, न अपना है न पराया, न भोक्ता है न भोग्य। तुम नित्य स्वरूपस्थित एक हो। ये सब तुम्हारे ही संकल्पसे बने हुए तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुमसे भिन्न अन्य कुछ भी है ही नहीं।

याद रक्खो—तुम्हीं जगत् हो, तुम्हीं जगत्से अतीत हो; क्योंकि तुम नित्य सर्वगत सर्वातीत परमात्मासे अभिन्न हो।

याद रक्खो—भक्तकी भाषामें तुम अपने भगवान्के नित्य दास हो, पर वहाँ भी भगवान् और भक्त—इन दोके सिवा तीसरा कोई नहीं है। भगवान् और तुम भक्त एक होते हुए ही लीलानन्दके लिये दो बने हुए एक दूसरेको देखते रहते हो। एक दूसरेको सुखी करते रहते हो। एक दूसरेको मनाते रहते हो। एक दूसरेसे प्रेम करते हो और एक दूसरेमें रमते हो। तुम प्रेमी हो, भगवान् प्रेमास्पद हैं; तुम रसमय हो, भगवान् आनन्दमय हैं। यह आनन्द-रस-लीला दिव्य, अनिर्वचनीय और नित्य है।

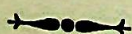
याद रक्खो—जो लोग न तो अपनेको आत्मा मानते हैं और न भगवान्के दास—वे स्वरूपतः नित्य सच्चिदानन्दमय आत्मा या नित्य भगवत्-किंकर होते हुए भी मायाके नित्य दास बने रहकर मायाके चक्करमें पड़े विभिन्न दुःख भोगते रहते हैं। आनन्दमय होते हुए ही विषादमय बने रहते हैं, स्वयं अमृतरूपके अमरपुत्र होते हुए ही बार-बार मरते रहते हैं। इन्हीं लोगोंको लेकर संसार नित्य दुःखालय और सदा अनित्य है।

याद रक्खो—मानव-शरीर इसीलिये मिला है कि बार-बार मिथ्या मृत्यु देकर सतानेवाले इस अज्ञानराज्यसे निकलकर परमात्माके स्वरूपको समझ लें और फिर अपने स्वरूपको समझकर नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपमें पहुँच जायँ। फिर चाहे सदाके लिये मिल जायँ या सदा दो बने चिदानन्दरसका आस्वादन करते रहें।

याद रक्खो—मानवशरीरमें ही यह सुअवसर प्राप्त है। अन्य योनियोंमें न यह ज्ञान होगा न प्रेम। इसलिये अन्य सारे कार्योंको छोड़कर, भूलकर या कम-से-कम उन्हें गौण मानकर इस परम प्रयोजनीय सबसे पहले सम्पादन करने योग्य कार्यमें लग जाओ।

याद रक्खो—यह कार्य कठिन नहीं है; क्योंकि सत्य स्वरूपको पानामात्र है। यह निश्चित नित्य प्राप्त तत्त्व है।

'शिव'



स्वधर्मपालनकी आवश्यकता

(प्रेषक—श्रीराधेश्यामजी अग्रवाल)

[आनन्द-गणेशघाट परमट, कानपुरमें होनेवाले गीताज्ञानयज्ञमें दिनाङ्क ३ दिसम्बर, १९५७ को श्रीस्वामी रामदेवजी महाराजद्वारा दिये गये उपदेशका सारांश]

आजकी दुनिया बहुत विचित्र है। धर्मके नामपर आज अनेकों धूर्त नाना प्रकारके पाखण्ड रच रहे हैं। ये अनेकों स्वाँग रचते हैं, अपनेको भगवान् और ब्रह्म कहकर जनताको सुख और शान्ति प्राप्त करानेका लालच देते हैं। संतप्तहृदय जनता इन धूर्त प्रचारकोंके जालमें फँसकर पथभ्रष्ट हो जाती है। भोली-भाली नारियाँ अधिकतर इनका शिकार बनकर धन-धर्म दोनों खो बैठती हैं। इस प्रकारके पाखण्डोंमें विषय-वासना प्रधान होती है, इसलिये आजके अनेकों पढ़े-लिखे विषयी मनुष्य इनमें सम्मिलित हो जाते हैं और इनके प्रचारके मुख्य साधन बन जाते हैं।

धार्मिक ग्रन्थोंमें धर्मका सिद्धान्त बताया गया है। गीतामें भी भगवान्ने सिद्धान्त बताया है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कल्याणके लिये ही गीता सुनायी थी, जनताके कल्याणके लिये ही ऋषि-मुनि उपदेश करते थे। आज पाखण्ड-मत चल रहे हैं, जिससे सच्चे धर्मका ह्रास होता जा रहा है। रामायणमें कहा है—

जिमि पाखंड बाद तें लुप्त होहिं सदग्रंथ।

पाखण्ड-प्रचारकोंमें पापकी भावना रहती है और वह अनर्थमूलक सिद्ध होती है; उससे सुख-शान्ति तो मिलती ही नहीं, तृष्णा और विषय पल्लेमें पड़ जाते हैं। एक महात्मा-नामधारी जीव बीस आने लेकर भगवान्के दर्शन कराते थे। जब कोई बीस आने देकर समीप जाता था तो वे कह देते थे कि 'सभी भगवान् हैं, सभी ईश्वरका रूप हैं तथा मेरा भी ईश्वररूप है।' भोग-विलास और धन-सम्पत्तिके लिये आज अनेकों पाखण्ड धर्मके नामपर चल रहे हैं। यह सब धोखा है, पापमूलक है और धन-धर्म दोनोंको नष्ट करनेवाला है। अपनेको भगवान् और ब्रह्म बताकर जो वे कहते हैं, उसे सुनना भी पाप है।

गीतामें भगवान्ने बड़ा सुन्दर उपदेश दिया है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सभी धर्मोंमें कोई-न-कोई दोष होता है; किंतु स्वधर्म-पालन अच्छा होता है। अपना धर्म वही है, जो स्वभावके अनुसार हो। इससे श्रेयकी प्राप्ति होती है। अपना धर्म तजकर मनुष्य विषयोंमें लिप्त हो जाता है।

धनके लिये विद्या नहीं पढ़ी जाती, परंतु शान्ति और सुख पानेके लिये विद्या पढ़ी जाती है; क्योंकि धनसे शान्ति नहीं मिलती। इसीलिये ब्राह्मण धनसे विरक्त रहता था। परंतु आज तो ब्राह्मण भी धनके लोभसे शास्त्रकी बात भी ठीक-ठीक नहीं कहते। संन्यासीको विरक्त रहना चाहिये। उसे भिक्षा भी उतनी ही ग्रहण करनी चाहिये, जितनेसे जीवनका निर्वाह हो जाय। निर्धन गरीब-जैसा उसका जीवन होना चाहिये। यदि संन्यासी ठाटसे रहेगा तो गृहस्थको उससे क्या आदर्श मिलेगा। त्यागसे ही आत्माको शान्ति मिलती है।

जब धर्म अधिक होता है, तब पृथ्वीकी उर्वरा शक्ति भी अधिक होती है। आज चारों ओर पापका बाहुल्य है, इसीलिये पृथ्वीकी उर्वरा शक्ति क्षीण होती जा रही है। चारों ओर अकालके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। प्रकृति भी विपरीत होती जा रही है। ये सब विनाश-

के लक्षण हैं। आज सच्चे महात्माओंके दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं और यदि कहीं हो भी जाते हैं तो दुनिया उनकी बातोंको श्रद्धापूर्वक सुनती नहीं। शास्त्रकी बात आज हम नहीं मानते, मर्यादाका पालन नहीं करते, फिर भी धर्म-धर्म चिल्लाते हैं। इस तरह आजका व्यापार चल रहा है। पाखण्डके आगे सच्चा धर्म लुप्त होता जा रहा है। अर्थात् अपने धर्म-ग्रन्थोंको हम पढ़ते नहीं, मनन नहीं करते, इसीलिये हमारा पतन होता जा रहा है। यदि आप सब धर्मके सच्चे स्वरूपको जानना चाहते हैं तो अपने धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन-मनन कीजिये और सच्चे संतोंका समागम कीजिये। जो सच्चे मनसे ईश्वरका भजन करेगा, वही इहलोक और परलोकमें कल्याण-प्राप्तिका अधिकारी होगा। भगवान् छल और कपटसे कभी प्रसन्न नहीं होते। इसीलिये गीतामें स्वधर्म-पालनपर विशेष बल दिया गया है। गीताके अभिप्रायको ठीक-ठीक समझ लेनेपर मानव किसीके पाखण्ड-जालमें नहीं फँसता और स्वधर्मपालनसे उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। अन्तःकरणकी निर्मलतासे भगवान्‌का ज्ञान अवश्य हो जायगा—इसमें कोई संदेह नहीं।

व्यापार बनाम जनसेवा

(लेखक—श्रीविनोबाजी)

आज व्यापारियोंकी एक सभा हुई, जिसमें मुख्य व्यक्ति आये थे। हमने देखा कि सर्वोदयके प्रति सबकी सहानुभूति थी। सर्वोदय-विचारकी एक खूबी है कि इसमें विरोध पैदा होनेके पहले ही शान्त हो जाता है। यह एक विशेष विचार है, जिसके अनुसार मनुष्य-मनुष्यके हितोंमें विरोध नहीं है। आजकल लोग समाजको दो टुकड़ोंमें बाँट देते हैं और उनके बीच विरोधकी कल्पना करते हैं, फिर उस विरोधको मिटानेके लिये कई बातें खड़ी करते हैं। यह सब-की-सब एक कल्पना-सृष्टिमात्र है। लेकिन कल्पना-सृष्टिको राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्रका रूप दिया गया है। इसलिये दुनियाभरमें जहाँ-कहीं देखें, झगड़े-ही-झगड़े चल रहे हैं। बहुसंख्यकके विरुद्ध अल्पसंख्यकका सवाल हर जगह खड़ा है। उससे समाजके दो टुकड़े बनते हैं और समाजको टुकड़ोंमें सोचनेकी आदत ही पड़ जाती है। विद्यार्थियोंका एक संघ बनता है, जो समझता है कि विद्यार्थियोंके हितका ख्याल करनेकी जिम्मेवारी उसकी है। उसके अलावा सारी दुनिया मानो उसके खिलाफ खड़ी है। इस तरह विद्यार्थीविरुद्ध शिक्षक, बूढ़ेविरुद्ध जवान, स्त्रीविरुद्ध पुरुष, मजदूरविरुद्ध मालिक आदि पचासों विरोध निर्माण होते हैं। क्या ये सारे विरोध वास्तवमें होते हैं? वास्तवमें अगर कोई विरोध होता है तो एक ही है—दैवी सम्पत्ति-विरुद्ध आसुरी सम्पत्ति। दुर्गुण और सद्गुणोंका विरोध है, जिसकी लड़ाई हर एकके दिलमें चल रही है। हर एकके मनमें कुछ अच्छी और कुछ बुरी वृत्तियाँ कम-वेशी मात्रामें रहती हैं, जिनका झगड़ा चलता रहता है। मन बड़ा कुरुक्षेत्र है, उसके अलावा दुनियामें और कहीं भी झगड़ा नहीं है। अगर कहीं झगड़ा पैदा हुआ-सा दीखता है, तो जो अंदर है, उसका वह प्रतिबिम्ब-स्वरूप है।

व्यापारी लोभवृत्ति दूर करें

मैं लोभी बन गया, संग्रह करता हूँ; मेरे मनमें लोभका जो दोष पड़ा है, उसका परिणाम यह होता है कि समाजमें दूसरा प्रतिलोभ पैदा होता है। फिर चोर निर्माण होते हैं, वे चोर तो निमित्तमात्र हैं। मेरे मनमें

जो लोभ है, जो मुझे नाहक संग्रह करनेके लिये प्रेरित करता है, वही चोरके रूपमें बाहर दिखायी देता है—इस बातको मैं नहीं समझता; बल्कि उस चोरको अपना विरोधी मानता हूँ। वास्तवमें उसके और मेरे बीचमें विरोध है नहीं, वह चोर तो मैंने पैदा किया है। मेरे मनमें अच्छी और बुरी वृत्तियोंकी जो लड़ाई चल रही है, उसमें अगर लोभ बलवान् बन गया तो सामने वह चोरका रूप लेकर खड़ा होता है। लेकिन अगर मैंने लोभको यहीं निर्बल बना दिया तो वह चोरके रूपमें बाहर खड़ा नहीं होता। लेकिन मैं इस बातको नहीं समझता और उस चोरके बंदोबस्तके लिये योजना करता हूँ। पुलिस, न्यायालय, न्यायाधीश और जेलकी योजना बनाता हूँ; लेकिन अपनी लोभ-निवृत्तिके लिये कोई भी योजना नहीं करता। अगर इधर लोभ रहेगा तो पुलिस और जेलके रहते हुए चोर बना ही रहेगा। यह समझनेकी बात है, हमने व्यापारियोंके सामने यह बात रखी।

अंग्रेजोंको भारतमें कैसे राज्य मिला ?

हमने उनसे यह भी कहा कि 'हिंदुस्तानमें अंग्रेज ७००० मीलकी दूरीसे आये और यहाँ सत्ताधारी बने; यह चमत्कार कैसे हुआ ?' उसका जो कारण हमने समझा है, हमने उनके सामने उसे रखा। अंग्रेज यहाँ व्यापार करनेके लिये आये। उन्हें उस समय कोई ख्याल नहीं था कि हमें हिंदुस्तानका राज्य हाथमें लेना पड़ेगा। कहाँ इंग्लैंड और कहाँ हिंदुस्तान। इतनी दूरसे बेचारे मुट्ठीभर लोग नौकामें बैठकर कुछ माल लेकर हिंदुस्तान आये और यहाँके लोगोंको अपना माल दिखाने लगे। उस हालतमें भी यहाँके लोगोंका प्रेम-सम्पादन करनेका काम ही वे कर सकते थे। दूसरा कुछ कर ही नहीं सकते थे। समझना चाहिये कि उन्होंने इतनी दूरसे इस विशाल देशमें आकर यहाँके लोगोंमें विश्वास पैदा किया। उस वक्त यहाँके जो व्यापारी थे, उनमें और साधारण समाजमें स्नेहबन्धन और परस्पर विश्वास नहीं था। अगर वह होता और यहाँके व्यापारी समाजकी सेवामें लगे होते तो अंग्रेजोंका राज्य यहाँ नहीं होता। लेकिन उन्होंने देखा कि यहाँके व्यापारी समाजको कष्ट देते हैं, अपनेको ऊँची और दूसरेको नीची श्रेणीका समझते हैं। यहाँ जाति-भेद पड़े हैं और यहाँके व्यापारी लोगोंका प्रेम प्राप्त करने और सेवाके ख्यालसे नहीं बरतते। अंग्रेजोंने यह सब देखा तो उनका पाँव यहाँ जम गया। फिर यहाँके लोगोंके साथ व्यापार करके उन्होंने पैसा कमाया, यहाँके लोगोंकी सेना तैयार की और यहाँपर जो जाति-भेद और परस्पर-विरोध बहुत थे, उनसे लाभ उठाकर आखिर उन्होंने राज्य अपने हाथमें ले लिया। अस्तु, जो हुआ सो हुआ, उससे दुःखित होनेकी बात नहीं है। वह तो अब एक स्वप्न हो गया है। अब हिंदुस्तानको स्वराज्य प्राप्त हुआ है। परंतु उस इतिहासके स्मरणकी बहुत जरूरत है, उससे हमें यह सीखना है कि व्यापारियोंको जनसेवकके तौरपर रहना चाहिये, तभी हिंदुस्तानकी ताकत बन सकती है। इतिहाससे और एक बात सीखनी है कि यहाँ जो व्यवस्थापक होते हैं, जो राज्यकर्ता कहलाते हैं, उनमें परस्पर-विरोध, झगड़े नहीं होने चाहिये। अगर ये दो बातें होनी हैं तो आप देखेंगे कि हिंदुस्तानका कायापलट हो जायगा।

समाजमें वर्गोंकी कल्पना असत्य

हम कहना यह चाहते हैं कि समाजमें वर्गोंकी कल्पना करना ही गलत है; यह सारा वर्गोंका विचार पश्चिमसे आया है और उसके आधारपर पश्चिमवालोंने कई प्रकारके राजनीतिक विचार बनाये हैं। परंतु राजनीतिमें योरपके लोग बहुत अपरिपक्व हैं। इन दिनों उन्होंने विज्ञानमें बहुत प्रगति की है और हमें उनसे बहुत सीखना है। विज्ञानकी हमें बहुत जरूरत है। इसलिये

है कि हम अहिंसाको बढ़ाना चाहते हैं। जितना विज्ञान बढ़ेगा उतनी अहिंसा बढ़ेगी। विज्ञानसे मनुष्यके हाथमें जो शक्तियाँ आयी हैं, वे मनुष्यको एकत्र रहनेके लिये मजबूर करेंगी। सामूहिक साधना करनेकी जिम्मेवारी विज्ञान पैदा करेगा। व्यक्तिगत साधना तो हिंदुस्तानमें बहुत चली है, सामाजिक साधना भी कुछ चली है, इसीलिये भक्तिमार्ग बना है। उससे देश बहुत बच गया है। लोग भजन करनेके लिये एकत्र होते हैं, यह बहुत बड़ी बात है। यह अपने देशकी ताकत है। लोग मौज करनेके लिये नहीं, बल्कि भक्तिके लिये इकट्ठे होते हैं। ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाजके-जैसा कोई समाज नहीं बनाते हैं, लेकिन शामको इकट्ठे होकर भगवान्‌का नाम लेते हैं। यह हिंदुस्तानकी सबसे बड़ी सामूहिक वस्तु है। भक्तिमार्गने साधनाको सामूहिक स्वरूप देनेका कार्य प्रारम्भ किया। अब सारे जीवनको ही सामूहिक रूप देनेकी जरूरत विज्ञानने पैदा की है। भक्तिमार्गका जो अरुणोदयरूप था, उसीकी प्रभाको अब विज्ञानरूपी सूर्य बढ़ा रहा है। एक बड़ी विचित्र बात मैंने आपके सामने रखी है; क्योंकि आजकल जो विज्ञानको अध्यात्मका विरोधी माना जाता है, यह गलत विचार है।

विज्ञान अध्यात्मको परिपूर्ण बना रहा है। उसका आरम्भ हिंदुस्तानमें भक्तिमार्गने कर दिया है। अब लोगोंको यह समझाना है कि भाइयो! तुम भजनके लिये एकत्र हो जाते हो, अब जीवनके लिये भी एकत्र हो जाओ। इसीलिये हम विज्ञानको बहुत चाहते हैं; और हमारा विश्वास है कि विज्ञानकी शक्तिसे दुनिया बहुत आगे बढ़ेगी। योरप और अमेरिकामें विज्ञानका बहुत अच्छा आविष्कार हुआ है। परंतु वहाँका राजनीतिशास्त्र बिल्कुल कच्चा है, उनका समाजशास्त्र बिल्कुल पोला है और वे मानसशास्त्र भी विकसित नहीं कर पाये हैं। वे मनकी विविध आकाङ्क्षाओं, उसके विकारोंका परीक्षण और निरीक्षण करते हैं, उसीको मनोविज्ञान कहते हैं। परंतु उन्होंने मनको जीतनेका शास्त्र नहीं बनाया है। उसके परिणामस्वरूप उनका समाजशास्त्र भी समाजको टुकड़ोंमें बाँटता है। उन्होंने परस्पर-विरोधी हितोंका विचार पैदा किया है और उसे वे यहाँतक ले जाते हैं कि वे कहते हैं कि 'सृष्टिके साथ विरोध होता है; हम जमीन खोदते हैं, यह भी एक विरोध है। हम पेड़ोंके फल छीनकर खाते हैं तो पेड़ोंके साथ हमारा विरोध होता है। इस तरह वे दुनियामें सर्वत्र विरोध ही देखते हैं। जिसे हम सेवा समझते हैं—जैसे पेड़ोंकी सेवा, प्राणियोंकी सेवा—उसे भी संघर्ष कहते हैं। पेड़ोंके, प्राणियोंके, पृथ्वीके साथ संघर्ष। इस तरहसे उन्होंने संघर्षकी परिभाषा बनायी है। माताके स्तनोंमें दूध होता है, वह बच्चेको प्यारसे दूध पिलाती है—यह हमारा दर्शन है। परंतु उनका दर्शन यह है कि बच्चेके मुँहका माताके स्तनके साथ संघर्ष होता है और उसमेंसे दूध निकलता है, बच्चा उससे लाभ उठाता है। यह तो मैंने जरा विनोद किया।

योरपका समाजशास्त्र कच्चा

मैं कहना यह चाहता हूँ कि उन्होंने विज्ञान बढ़ाया परंतु उनका समाजशास्त्र कच्चा है। उनका विज्ञान उनके समाजशास्त्रके खिलाफ खड़ा है और इसके बावजूद कि मनुष्यके हाथमें विज्ञानकी खूब शक्तियाँ आयी हैं, आज सर्वत्र भय-ही-भय है। जितनी विज्ञानकी शक्ति पहले कभी नहीं थी, उतनी आज है। अब तो हम आकाशमें ग्रहोंको घुमा रहे हैं। इतनी शक्ति मनुष्यके हाथमें आयी है तो समाजमें कितना सुख होना चाहिये! परंतु आज उल्टी ही बात दिखायी देती है। आज दुनियामें जितना ज्ञान है, उतना पहले कभी नहीं था और आज दुनियामें जितना भय है, उतना पहले कभी नहीं था।

ज्ञानके साथ भय नहीं हो सकता, ज्ञानके साथ तो निर्भयता होनी चाहिये; परंतु उनका समाजशास्त्र बिल्कुल कच्चा है। हम पश्चिमका विज्ञान लेना चाहते हैं और यहाँके समाजशास्त्रको, जो आत्मज्ञानपर खड़ा है, विज्ञानके साथ जोड़ना चाहते हैं; यह कार्य सर्वोदय कर रहा है।

सर्वोदयका वैज्ञानिक विचार यह है कि जनताकी सेवा प्रतिनिधियोंद्वारा नहीं होनी चाहिये। जनताको स्वयं वह काम करना चाहिये। पश्चिमकी पद्धति यह है कि जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है, जिनकी सरकार बनती है, जो सेवा करती है। फिर लोग बिल्कुल पराधीन बन जाते हैं। आज अमेरिका, रूस, इंग्लैंड आदि सब देशोंके लोग पराधीन हैं। कोई 'आइक'के अधीन है, तो कोई 'माइक'के। अगर इन 'माइक' और 'आइक'का दिमाग बिगड़ जाय तो सारी दुनियामें आग लग सकती है। आज सारी दुनिया चार-पाँच लोगोंके हाथमें है। अगर उन्होंने चाहा तो वे सारी दुनियाको खत्म कर सकते हैं। अगर उनका दिमाग ठीक रहे तो हम सब सुरक्षित हैं। इस तरह हमारा सारा भला-बुरा करनेका अधिकार चंद लोगोंके हाथोंमें सौंपना अत्यन्त खतरनाक है। इसलिये हमने व्यापारियोंसे अपील की कि आपलोग जनसेवामें लग जायँ। आज आप जो व्यापार करते हैं, वह भी एक सेवाका प्रकार है। लेकिन आज उसे स्वार्थका रूप मिला है। अगर उस कामके साथ आप सेवा करेंगे तो आपका व्यापार मजबूत बनेगा और हिंदुस्तानमें स्वतन्त्र जनशक्ति विकसित होगी। हिंदुस्तानकी परतन्त्रता व्यापारियोंने प्राप्त की है, अब हिंदुस्तानकी आजादीको मजबूत बनानेका काम भी व्यापारियोंको करना चाहिये।

(पड़ाव—नायनहल्ली, मैसूर राज्य, ता० १३. १०. ५७)

प्रभुसे याचना

अपनी भगति दे भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु, नाहिनै रुचि आन॥
जरँत ज्वाला, गिरत गिरि ते, स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत राखि सकत न ईस॥
कामना करि कोपि कबहूँ करत कर पसु घात।
सिंह सावक जात गृह तजि इंद्र अधिक डरात॥
जा दिनातें जनमु पायौं, यहै मेरी रीति।
विषय विष हठि खात, नाहीं डरत करत अनीति॥
थके किंकर जूथ जम के टारे टरत न नेक।
नरक कूपनि जाइ जमपुर पर्‍यौ बार अनेक॥
महा माचल, मारिबे की सकुच नाहिन मोहि।
पर्‍यौ हौं पन किएँ द्वारें, लाज पन की तोहि॥
नाहिनैं काँचौ कृपानिधि, करौ काह रिसाइ।
'सूर' तबहुँ न द्वार छाँड़ै, डारिहौ कढ़राइ॥

परमात्माका तत्त्व-रहस्य-सहित स्वरूप

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परमात्माका जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन स्वरूप है, वह एक, अद्वितीय, गुणातीत, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, क्रियारहित, आकाररहित, विकारशून्य, विशेषणोंसे रहित, गुणोंसे रहित, धर्मोंसे रहित, केवल, शुद्ध, चिन्मय, निर्विशेष है। वह प्रापणीय वस्तु है। वास्तवमें वह बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान और ध्यानका विषय नहीं है। वह स्वयं ही अपने-आपको जानता है। जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह फिर तद्रूप ही बन जाता है। जो उस विज्ञाना-नन्दघन ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म होकर ही उसे जानता है, उससे भिन्न होकर नहीं। यह कथन भी वास्तवमें बनता नहीं, केवल जिज्ञासु साधकोंको समझानेके लिये ही है।

परमात्माका जो दूसरा सगुण स्वरूप है, उसको इस प्रकार समझना चाहिये—

सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिके तीन गुण हैं। इन तीनों गुणोंसे युक्त प्रकृति ईश्वरकी शक्ति है, इसीको त्रिगुण-मयी माया कहते हैं (गीता ७ । १४) और ईश्वर शक्तिमान् है। उसकी शक्ति उससे भिन्न भी है और अभिन्न भी। तीनों गुणोंसे युक्त शक्ति जड है और परमात्मा चेतन है—इस दृष्टिसे तो वह शक्ति परमात्मासे भिन्न है तथा परमात्मा ही शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं, इस दृष्टिसे शक्ति परमात्मासे अभिन्न है। इस शक्तिका नाम ही प्रकृति है। प्रकृतिके कार्य होनेसे गुण प्रकृतिसे अभिन्न हैं तथा जैसे बर्फ जलसे ही उत्पन्न होती और जलमें ही विलीन हो जाती है, वैसे ही तीनों गुण प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते और उसीमें विलीन हो जाते हैं। महासर्गके आरम्भमें उस प्रकृति-से ही गुण उत्पन्न होते हैं (गीता १४ । ५), या यों कहिये कि प्रकृति गुणोंके रूपमें अभिव्यक्त होती है। समस्त जीवों-के संस्कार जो प्रकृतिके रूपमें स्थित हो रहे हैं, जीवोंको उनका फल-भोग करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है अर्थात् उसमें हलचल पैदा होती है। उस हलचलसे प्रकृतिमें दो विभाग हो जाते हैं। इनमें एकका नाम विद्या और दूसरेका नाम अविद्या है। विद्या सत्त्वगुण है और अविद्या तमोगुण है तथा जो प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वह क्रियारूप हलचल (चञ्चलता) रजोगुण है। महाप्रलयके समय ये तीनों गुण उस प्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं, वही प्रकृतिकी साम्यावस्था है। जितने कालतक महासर्ग रहता है, उतने ही कालतक महाप्रलय रहता है। महाप्रलय-के समय सम्पूर्ण जीव, संस्कारके रूपमें जीवोंके कर्म, तीनों गुण और गुणोंका कार्यरूप यह दृश्यवर्ग—जड संसार, ये सब-के-सब प्रकृतिसंयुक्त ब्रह्ममें विलीन रहते हैं। महाप्रलय-के अन्त और महासर्गके आदिमें पुनः जीवोंके संस्काररूप कर्मोंका फल-भोग जीवोंको करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम—ये तीन विभाग हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृतिसंयुक्त परमात्मामें सृष्टिकी उत्पत्ति और विलय बारंबार होते रहते हैं।

इस सगुणस्वरूप परमात्माके दो भेद हैं—(१) निराकार, (२) साकार।

(१) वे सगुण-निराकार परमात्मा अविद्यासे अति परे, अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त, बोधस्वरूप, कैवल्यरूप, सर्वत्र परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय, अखण्ड, अतिदिव्य मङ्गल-स्वरूप, सच्चिदानन्दमय हैं तथा क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त असीम अलौकिक अप्राकृत दिव्य चिन्मय गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे परमात्मा निराकाररूपसे सारे संसारमें व्यापक हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है—

> मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
> मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
> (९ । ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् (जलसे बर्फ-की भाँति) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं; किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

इसी स्वरूपका वर्णन गीतामें परम दिव्य पुरुषके नामसे किया गया है—

> कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
> सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
> प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
> भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
> (८ । ९-१०)

'जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्य-स्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य-चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परमपुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(गीता ८। २२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सब भूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

(२) परमात्माका जो दिव्य गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूप है, वह चिन्मय है। इसी प्रकार भगवान्‌का परम धाम भी दिव्य चेतन है। एवं उस परम धाममें जानेवाले भक्तोंके स्वरूप भी चेतन हैं। वे ही क्षमा, दया, प्रेम, समता, शान्ति, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त दिव्य चिन्मय गुणोंसे युक्त भगवान् अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सगुण साकार रूपोंसे प्रकट होते हैं अर्थात् अवतार लेते हैं। गीतामें भगवान‌ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यह श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिका अवतार-विग्रह अनधिकारी मूढ मनुष्योंके लिये भगवान्‌की त्रिगुणमयी मायासे आच्छादित रहता है, इसीलिये भगवान्‌के तत्त्वको न जाननेवाले वे मनुष्य उसे नहीं जान पाते। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु भगवान् अपने अनन्य विशुद्ध प्रेमी श्रद्धालु भक्तके लिये अपनी उस त्रिगुणमयी योगमायाका पर्दा दूर कर देते हैं, जिससे वह भक्त अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपका दर्शन कर लेता है तथा तत्त्वसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना तथा प्रवेश भी किया (एकीभावसे प्राप्त किया) जा सकता हूँ।'

परंतु जिनका भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम नहीं है, ऐसे आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके लिये भगवान् अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं। अतः वे आसुर स्वभाववाले मूढ मनुष्य भगवान्‌को न जाननेके कारण उनका तिरस्कार करते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

'मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

किंतु ज्ञानी महात्मा पुरुष उस परमात्माके परम दिव्य स्वरूपको तत्त्वसे जानते हैं। एवं जो जानते हैं, वे संसारसे मुक्त होकर उस परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

संसारमें स्थित दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों तथा ज्ञानी महात्मा महापुरुषोंमें जो क्षमा, दया, प्रेम, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि गुण दृष्टिगोचर होते हैं, उन गुणोंमें और परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंमें

भी बहुत अन्तर है । पूर्णिमाके चन्द्रमाका एक तो असली स्वरूप होता है, जो आकाशमें स्थित दीखता है; और दूसरा दर्पणमें उसका वैसा-का-वैसा प्रतिबिम्ब-स्वरूप दीखता है । सगुण परमात्माके जो दिव्य गुण हैं, वे तो पूर्ण चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपकी भाँति हैं और चिन्मय हैं; तथा जो प्रकृतिके कार्यभूत विद्यारूप सात्त्विक गुण हैं, वे प्रकृतिके कार्य होनेसे जड हैं । ये गुण दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों और ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें, दर्पणमें पूर्णचन्द्रमाके प्रतिबिम्बकी भाँति, परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंके ही प्रतिबिम्बभूत हैं ।

साधकके गुणों और सिद्ध महात्माके गुणोंमें भी भेद है । दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक साधक पुरुष तो गुणोंकी सत्ता अपनेमें मानता है और गुणातीत ज्ञानी महात्मा पुरुष इस देहके अभिमानसे रहित हो परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं । अतः उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें ये गुण रहते अवश्य हैं, किंतु इन गुणरूप धर्मोंको अपनेमें माननेवाला कोई धर्मी नहीं रहता; क्योंकि वे स्वयं तो गुणोंसे अतीत हो सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं ।

साधकों और महात्माओंके जो क्षमा, दया, प्रेम, ज्ञान, शान्ति, समता, संतोष आदि गुण हमलोगोंकी जानकारीमें आते हैं, वे दिव्य होते हुए भी ज्ञेय होनेके कारण जड हैं । किंतु परमात्माके स्वरूपभूत गुण दूसरेके द्वारा जाननेमें नहीं आ सकते, उनको महर्षि और देवगण भी नहीं जान सकते । इसी प्रकार उनका दिव्यस्वरूप भी किसी दूसरेके जाननेमें नहीं आ सकता । भगवान्ने स्वयं कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥
(गीता १० । २)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका तथा महर्षियोंका भी आदि कारण हूँ ।'

वे स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं । गीतामें अर्जुनने भगवान्के प्रति कहा है—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
(१० । १५ का पूर्वार्ध)

'हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ।'

क्योंकि यदि भगवान्का स्वरूप किसी दूसरेके जाननेमें आ जाय, तब तो वह भी अन्य ज्ञेय पदार्थोंकी भाँति जड ही समझा जायगा । परमात्मा बुद्धिसे परे हैं, अतएव उनको बुद्धिके द्वारा कोई नहीं जान सकता; किंतु वे सबको जानते हैं । गीतामें भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥
(७ । २६)

'हे अर्जुन ! पूर्वमें हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ; परंतु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ।'

ऊपर परमात्माके निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दमय स्वरूप तथा सगुण निराकार एवं सगुण साकार स्वरूपोंकी बात कही गयी—इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परमात्मा अनेक हैं । एक परमात्माके ही ये अलग-अलग स्वरूप उपासकोंकी दृष्टिसे ही बतलाये गये हैं । वस्तुतः इन सभी रूपोंमें एक, अद्वितीय, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, केवल, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं ।

इसलिये उन परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको उनकी अनन्यभक्ति करनी चाहिये । उस अनन्य भक्तिका स्वरूप भगवान्ने अपने अनन्य भक्तके लक्षण कहकर इस प्रकार बतलाया है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गीता ११ । ५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म करता है, मेरे परायण है, मुझसे ही प्रेम करता है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके प्रति वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।'

वैष्णव-सदाचार

(गताङ्कसे आगे)

निर्माल्य-धारण

गरुडपुराणमें आया है—

हरेर्मूर्त्यंधशेषं तु तुलसीकाष्ठचन्दनम् ।
निर्माल्यं तु वहेद्यस्तु कोटितीर्थफलं लभेत् ॥

'श्रीहरिके श्रीविग्रहपर चढ़े हुए तुलसीकाष्ठ, चन्दन आदि निर्माल्यको जो धारण करता है, वह कोटि तीर्थोंमें भ्रमणका फल प्राप्त करता है।'

स्कन्दपुराणका वचन है—

किं करिष्यति सुस्नातो गङ्गायां भूसुरोत्तम ।
यो वहेच्छिरसा नित्यं तुलसीं विष्णुसेविताम् ॥

'हे विप्रवर ! जो श्रीविष्णुके निर्माल्यस्वरूप तुलसीको नित्य अपने सिरपर धारण करता है, उसको फिर गङ्गास्नान-की आवश्यकता ही क्या है। अर्थात् गङ्गा-स्नानके बिना ही उसके सारे पाप दूर हो जाते हैं।' तथा—

विष्णुमूर्त्तिस्थितं पुष्पं शिरसा यो वहेन्नरः ।
अपर्युषितपापस्तु यावद् युगचतुष्टयम् ॥

'विष्णुभगवान्के श्रीविग्रहस्थित पुष्प आदि निर्माल्यको जो मनुष्य सिरपर धारण करता है, चारों युगोंतक उसके पास कोई बासी पाप शेष नहीं रहता; अर्थात् उसके सारे पाप ध्वंस हो जाते हैं।'

शङ्ख-माहात्म्य

शङ्खे हरेरधिष्ठानं यतः शङ्खस्ततो हरिः ।
तत्रैव सततं लक्ष्मीर्दूरीभूतममङ्गलम् ॥
शङ्खशब्दो भवेद् यत्र तत्र लक्ष्मीश्च सुस्थिरा ।
स स्नातः सर्वतीर्थेषु यः स्नातः शङ्खवारिणा ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'शङ्खमें श्रीहरिका अधिष्ठान है; जहाँ शङ्ख है; वहाँ हरि हैं। वहाँ लक्ष्मी सदा विराजित रहती हैं तथा वहाँसे सारे अमङ्गल दूर हो जाते हैं; जहाँ शङ्खध्वनि होती है, वहाँ लक्ष्मी निश्चल होकर रहती हैं। जो शङ्खके जलसे स्नान करता है, उसने मानो सारे तीर्थोंमें स्नान कर लिया।' पद्मपुराणमें आया है—

पयस्विन्याः शुभं क्षीरं शङ्खे कृत्वा तु नारद ।
यः स्नापयति देवेशं स गच्छेद् ब्रह्मणः पदम् ॥
क्षिप्त्वा गङ्गोदकं शङ्खे यः स्नापयति माधवम् ।
नमो नारायणेत्युक्त्वा मुच्यते योनिसंकटात् ॥

'हे नारद ! जो गायके पवित्र दूधको शङ्खमें डालकर उससे सर्वदेवेश श्रीविष्णुको स्नान कराता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। जो गङ्गाजल शङ्खमें डालकर 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रसे माधवको स्नान कराता है, वह पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता।' स्कन्दपुराणका वचन है—

शङ्खस्थितेन तोयेन यः स्नापयति केशवम् ।
कपिलाशतदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥
नाद्यं तडागजं वारि वापीकूपह्रदादिजम् ।
गाङ्गेयं च भवेत्सर्वं कृतं शङ्खे कलिप्रिय ॥
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवस्य चाज्ञया ।
शङ्खे तिष्ठन्ति विप्रेन्द्र तस्माच्छङ्खं सदार्चयेत् ॥

'जो मनुष्य शङ्खस्थित जलके द्वारा श्रीकृष्णको स्नान कराता है, वह एक सौ कपिला गौओंके दानका फल प्राप्त करता है। हे कलहप्रिय नारद ! नदी, तालाब, वापी, कूप और झील आदिका जल शङ्खमें रखते ही गङ्गाजल बन जाता है। हे विप्रवर ! त्रिभुवनमें जितने तीर्थ हैं, वे श्रीकृष्णकी आज्ञासे शङ्खमें निवास करते हैं; अतएव सदा ही शङ्खकी अर्चना करनी चाहिये।' श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

अथ शङ्खोदकं तच्च कृष्णदृष्टिसुधोक्षितम् ।
वैष्णवेभ्यः प्रदायाभिवन्द्य मूर्द्धनि धारयेत् ॥

'अनन्तर श्रीकृष्णकी दृष्टि-सुधासे सिञ्चित आरतीका शङ्खजल वैष्णवोंके मस्तकपर छींटकर प्रणामपूर्वक अपने सिरपर धारण करे।'

शङ्खस्थितं तु यत्तोयं भ्रामितं केशवोपरि ।
वन्दते शिरसा नित्यं गङ्गास्नानेन तस्य किम् ॥
कृष्णमूर्ध्नि भ्रामितं तु जलं तच्छङ्खसंस्थितम् ।
कृत्वा मूर्द्धन्यवाप्नोति मुक्तिं विष्णोः प्रसादतः ॥

(स्कन्दपुराण)

'शङ्खमें रखकर श्रीकृष्णके मस्तकके ऊपर घुमाये हुए जलको जो सिर झुकाकर मस्तकपर धारण करता है, उसके लिये फिर गङ्गास्नानका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, अर्थात् उसके सारे पाप धुल जाते हैं।

शङ्खस्थित जो जल श्रीकृष्णके मस्तकके ऊपर घुमाया जाता है, उसको सिरपर धारण करनेसे विष्णुके अनुग्रहसे मुक्ति प्राप्त होती है।'

घण्टा

स्नानार्चनक्रियाकाले घण्टानादं करोति यः।
पुरतो वासुदेवस्य तस्य पुण्यफलं शृणु॥
वर्षकोटिसहस्राणि वर्षकोटिशतानि च।
वसते देवलोके तु अप्सरोगणसेवितः॥
वादित्राणामभावे तु पूजाकाले हि सर्वदा।
घण्टाशब्दो नरैः कार्यः सर्ववाद्यमयो यतः॥

(स्कन्दपुराण)

'स्नान-पूजा आदि क्रियाके समय श्रीवासुदेवके आगे जो घण्टानाद करता है, उसके पुण्यफलको सुनो। वह मनुष्य अरबों वर्षतक अप्सराओंके साथ देवलोकमें वास करता है। अन्य वाद्ययन्त्रोंका अभाव हो, तो भी मनुष्यको पूजाके समय सदा घण्टानाद अवश्य करना चाहिये; क्योंकि घण्टा सर्ववाद्यमयी है।' नारद-पञ्चरात्रका वचन है—

आवाहनार्घ्ये धूपे च पुष्पनैवेद्ययोजने।
नित्यमेतां प्रयुञ्जीत तन्मन्त्रेणाभिमन्त्रिताम्॥
पूजाकालं विनान्यत्र हितं नास्याः प्रचालनम्।
न तया च विना कुर्यात्पूजनं सिद्धिलालसः॥

'देवताको आवाहन, अर्घ्य, धूप, पुष्प और नैवेद्य अर्पण करते समय 'ॐ मन्त्रमातः स्वाहा' इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए सदा घण्टानाद करे। पूजाकालके अतिरिक्त घण्टा बजानेसे मङ्गल नहीं होता। साथ ही जो सिद्धिकी कामना करते हैं, उनको बिना घण्टाके पूजा नहीं करनी चाहिये।'

पूजा-फलकी प्राप्ति

अगस्त्य-संहिताका वचन है—

न्यायार्जितैः साधनैश्च दानहोमार्चनादिकम्।
कुर्याच्च चेदधो याति भक्त्या कुर्वन्नपि द्विज॥
आराधनासमर्थश्चेद्दद्यादर्चनसाधनम्।
यो दातुं नैव शक्नोति कुर्यादर्चनदर्शनम्॥
निस्ताराय तदेवालं भवाब्धेर्मुनिसत्तम॥

'हे द्विज! न्यायसे कमाये हुए साधनोंके द्वारा दान, होम और पूजन आदि करने चाहिये। अन्यथा अन्यायसे उपार्जित साधनोंके द्वारा भक्तिपूर्वक अर्चा आदि करनेपर भी मनुष्यकी अधोगति होती है। मुनिश्रेष्ठ! जो व्यक्ति स्वयं पूजा करनेमें असमर्थ हो, वह पूजाकी सामग्री दान दे। जो इसमें भी असमर्थ हो, वह पूजाके दर्शन ही कर ले; क्योंकि पूजाका दर्शनमात्र निश्चय ही भवसागरसे तारनेमें समर्थ है।'

चरणामृत-धारण

श्रीहरिभक्तिविलासमें आया है—

कृष्णपादाब्जतीर्थं च वैष्णवेभ्यः प्रदाय हि।
स्वयं भक्त्याभिवन्द्यादौ पीत्वा शिरसि धारयेत्॥

'श्रीकृष्णका चरणामृत पहले वैष्णवोंको प्रदान करके पश्चात् स्वयं भक्तिपूर्वक प्रणाम करके पीकर सिरपर धारण करे।'

अशुचिर्वा दुराचारो महापातकसंयुतः।
स्पृष्ट्वा पादोदकं विष्णोः सदा शुद्ध्यति मानवः॥
हरेः स्नानावशेषं तु जलं यस्योदरे स्थितम्।
अम्बरीष! प्रणम्योच्चैः पादपांशुः प्रगृह्यताम्॥
शालग्रामशिलातोयं यः पिबेद्बिन्दुना समम्।
मातुः स्तन्यं पुनर्नैव स पिबेद्भक्तिमाञ्जरः॥
दहन्ति नरकान् सर्वान् गर्भवासं च दारुणम्।
पीतं यैस्तु सदा नित्यं शालग्रामशिलाजलम्॥
धृते शिरसि पीते च सर्वास्तुष्यन्ति देवताः।
प्रायश्चित्तं तु पापानां कलौ पादोदकं हरेः॥

(पद्मपुराण)

'अशुचि हो, दुराचारी हो या महापापी हो, मनुष्य विष्णुभगवान्‌के पादोदकके स्पर्शमात्रसे पवित्र हो जाता है। हे अम्बरीष! श्रीहरिके स्नानका अवशिष्ट जल जिसके उदरमें अवस्थित है, उसे उच्च स्वरसे प्रणाम करके उसकी पद-रज ग्रहण करनी चाहिये। जो भक्तिमान् पुरुष शालग्राम-शिलाके जलका बिन्दुमात्र भी पान करता है, उसको फिर माताका स्तनपान नहीं करना पड़ता, अर्थात् उसका फिर जन्म नहीं होता। जो लोग नित्य शालग्राम-शिलाका जल पान करते हैं, वे सारे नरकोंको तथा दारुण गर्भवासको जला डालते हैं। श्रीभगवान्‌का चरणामृत सिरपर धारण करने और पीनेसे सारे देवता संतुष्ट होते हैं। कलियुगमें श्रीहरिका चरणोदक सब पापोंका प्रायश्चित्त है।' चरणामृत लेनेका मन्त्र यह है—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

'अकालमृत्युको हरनेवाले तथा सब प्रकारके रोगोंको नष्ट करनेवाले विष्णुका चरणोदक पीनेसे पुनर्जन्म नहीं होता।'

पादोदकस्य माहात्म्यं देवो जानाति शंकरः।
विष्णुपादच्युता गङ्गा शिरसा येन धारिता॥

(स्कन्दपुराण।)

'श्रीविष्णुभगवान्‌के चरणोदकके माहात्म्यको भगवान् शंकर जानते हैं, जिन्होंने विष्णुके चरणोंसे च्युत गङ्गाको अपने सिरपर धारण किया है।'

तथा—

कृत्वा पादोदकं शङ्खे वैष्णवानां महात्मनाम्।
यो दद्यात् तुलसीमिश्रं चान्द्रायणशतं लभेत्॥
गृहीत्वा कृष्णपादाम्बु शङ्खे कृत्वा तु वैष्णवः।
यो वहेच्छिरसा नित्यं स मुनिस्तापसोत्तमः॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'जो व्यक्ति श्रीविष्णुके चरणोदकको शङ्खमें रखकर उसमें तुलसीदल मिलाकर महानुभाव वैष्णवोंको प्रदान करता है, उसको सौ चान्द्रायण-व्रत करनेका फल मिलता है। जो वैष्णव श्रीकृष्णका पादोदक शङ्खमें रखकर नित्य अपने सिरपर धारण करता है, वह तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ है।'

पूजा बिना भोजनमें दोष

न त्वेवापूज्य भुञ्जीत भगवन्तं जनार्दनम्।
न तत्स्वयं समश्नीयाद्यद्विष्णौ न निवेदयेत्॥

(कूर्मपुराण)

'भगवान् श्रीजनार्दनकी पूजा बिना किये भोजन तो करे ही नहीं; जो पदार्थ पहले भगवान् विष्णुको निवेदन न कर ले, उसे स्वयं न खाय।'

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं पूजयेद्धरिम्।
अपूज्य भोजनं कुर्वन्नरकाणि व्रजेन्नरः॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

'मनुष्य एक समय (प्रातःकाल), दोनों समय (प्रातः-सायं) अथवा तीनों कालमें (प्रातः, सायं एवं मध्याह्नमें) श्रीहरिकी पूजा करे। बिना पूजा किये जो भोजन करता है, वह मनुष्य नरकोंमें जाता है।'

ब्रह्माण्डपुराणका वचन है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यमौषधम्।
अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम्॥
अनिवेद्य तु भुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः।

'पत्र, पुष्प, फल, जल, अन्न-पानादि तथा औषध-पर्यन्त जो कुछ अपने खानेके लिये तैयार किया गया हो, उसे भगवान्‌को निवेदन किये बिना ग्रहण न करे। अनिवेदित वस्तु ग्रहण करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्तका भागी होता है।'

पद्मपुराणमें आया है—

अम्बरीष! नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्।
कृत्वा विष्णूपभुक्तं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवैः॥

महर्षि गौतम कहते हैं—'हे महाराज अम्बरीष! नया वस्त्र, फल, अन्न तथा रसादि सभी द्रव्य वैष्णव सर्वदा श्रीभगवान्‌को निवेदन करके ही सेवन करे।'

अनिवेद्य तु यो भुङ्क्ते हरये परमात्मने।
मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः॥

(विष्णुस्मृति)

'जो वैष्णव परमात्मा श्रीहरिको निवेदन किये बिना ही भोजन करता है, उसके पितर अनन्त कालतक नरकमें पड़े रहते हैं।'

भोजन-विधि

विष्णुपुराणमें लिखा है—

पञ्चग्रासं महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय तत्।
भुक्त्वा सम्यगथाचम्य प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा॥
यथावत्पुनराचामेत् पाणी प्रक्षाल्य मूलतः।
स्वस्थः प्रशान्तचित्तश्च कृतासनपरिग्रहः।
अभीष्टदेवतानां च कुर्वीत स्मरणं नरः॥

'मनुष्य पूर्व मुख या उत्तर मुख बैठकर, आचमन करके, मौनी होकर, प्राणादि पञ्चवायुओंकी तृप्तिके लिये पहले पाँच ग्रास भक्षण करके पश्चात् यथावत् भोजन करे। अनन्तर दोनों हाथोंको मूलपर्यन्त धोकर आचमन करे। पश्चात् आसनपर बैठकर स्वस्थ और प्रशान्त चित्तसे इष्ट देवताका स्मरण करे।'

कूर्मपुराणमें आया है—

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत सूर्याभिमुख एव वा।
आसीनः स्वासने सिद्धे भूम्यां पादौ निधाय च॥
पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्यात् भूमौ पात्रं निधाय च।
उपवासेन तत्तुल्यं मनुराह प्रजापतिः॥

उपलिप्ते शुचौ देशे पादौ प्रक्षाल्य वै करौ ।
आचम्यार्द्राननोऽक्रोधः पञ्चार्द्रो भोजनं चरेत् ॥

'अपने पवित्र आसनपर बैठकर, भूमिपर दोनों पैरोंको रखकर, पूर्वमुख या सूर्याभिमुख होकर अन्नादि भोजन करे। प्रजापति मनु कहते हैं कि भूमिपर पात्र रखकर पञ्चार्द्र-भावसे भोजन करे। यह भोजन उपवासके तुल्य होता है, अर्थात् इससे रोगोत्पत्ति नहीं होती। पञ्चार्द्रका अर्थ है—(१) दोनों हाथ, (२) दोनों पैर और (३) मुँह धोकर, (४) क्रोधका परित्याग करके तथा (५) गोबरसे लिपे हुए शुद्ध स्थानमें भोजन करे।' तथा—

भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यच्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः ।
सोपानकश्च यद्भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम् ॥
नार्द्धरात्रे न मध्याह्ने नाजीर्णे नार्द्रवस्त्रधृक् ।
न च भिन्नासनगतो न याने संस्थितोऽपि वा ॥
न भिन्नभाजने चैव न भूम्यां न च पाणिषु ।
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ॥
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'सिर ढककर, अग्नि आदि चार कोणों (विदिशाओं) में मुँह करके तथा जूता पहनकर जो भोजन करते हैं, उनकी वह सारी चेष्टा आसुरी होती है। मध्यरात्रमें, मध्याह्न-में, अजीर्णावस्थामें, गीला वस्त्र पहनकर, फटे आसनपर बैठकर, किसी सवारीपर बैठकर, फूटे बर्तनमें तथा भूमिपर या हाथमें अन्नादि रखकर भोजन नहीं करना चाहिये। कभी अतिभोजन भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह आरोग्यनाशक, आयुनाशक, स्वर्गप्राप्तिमें बाधक, पापजनक तथा लोकविरुद्ध है।'

विष्णुपुराणमें कहा गया है—

अश्नीयात्तन्मयो भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम् ।
लवणाम्ले तथा मध्ये कटुतिक्तादिकांस्ततः ॥
प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नीयान्मध्ये च कठिनाशनम् ।
अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्ये न मुञ्चति ॥

'अन्नके प्रति निविष्टचित्त होकर पहले मधुर रस भोजन करे। मध्यमें लवण और अम्लरस तथा अन्तमें कटु-तिक्तादि रस खाये। मनुष्य पहले द्रव पदार्थ भोजन करे, मध्यमें कठिन (कठोर) पदार्थ तथा अन्तमें पुनः द्रव पदार्थ खाये। इससे उसका बल और आरोग्य बराबर बना रहता है।'

श्रीमूर्तिका दर्शन

तावद्भ्रमन्ति संसारे मनुष्या मन्दबुद्धयः ।
यावद्रूपं न पश्यन्ति केशवस्य महात्मनः ॥

'मन्दबुद्धि मनुष्य जबतक भगवान् केशवकी श्रीमूर्तिके दर्शन नहीं करते, तभीतक उनको संसारमें भ्रमण करना पड़ता है अर्थात् जन्म-मरणके चक्करमें भटकना पड़ता है।'

अग्निपुराणमें कहा गया है—

पूजितं पूज्यमानं वा यः पश्येद्भक्तितो हरिम् ।
श्रद्धया मोदयेद् यस्तु सोऽपि योगफलं लभेत् ॥

'जो पूजित या पूजे जाते हुए श्रीहरिका भक्तिपूर्वक दर्शन करता है, अथवा जो श्रद्धापूर्वक इसका अनुमोदन करता है, वह भी योगफलको प्राप्त होता है।'

श्रीभगवदर्थ द्रव्यदान

स्कन्द पुराणका वचन है—

विष्णुमुद्दिश्य यत्किंचिद्विष्णुभक्ताय दीयते ।
दानं तद्विमलं प्रोक्तं केवलं मोक्षसाधनम् ॥

'श्रीविष्णु भगवान्के उद्देश्यसे वैष्णवको जो कुछ द्रव्य दिया जाता है, वह दान पवित्र कहलाता है और केवल उसीके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।'

विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है—

यथा कथंचिद्यद्दत्तं देवदेवे जनार्दने ।
अविनाशि तु तद्विद्धि पात्रमेको जनार्दनः ॥
नवमन्नं फलं पुष्पं निवेद्य मधुसूदने ।
पश्चाद्भुङ्क्ते स्वयं यश्च तस्य तुष्यति केशवः ॥

'जिस किसी प्रकारसे देवदेव श्रीजनार्दनको जो कुछ दिया जाता है, समझ लो कि वह अक्षय हो गया। जनार्दन ही दानके एकमात्र पात्र हैं। जो नया अन्न, फल, पुष्प श्रीकृष्णको निवेदन करके पश्चात् स्वयं उपभोग करता है, श्रीकृष्ण उसपर प्रसन्न होते हैं।'

मन्त्रजप और जपमाला

तुलसीकाष्ठघटितैर्मणिभिर्जपमालिका ।
सर्वकर्मणि सर्वेषामीप्सितार्थफलप्रदा ॥

'तुलसीकाष्ठके बने मनियोंके द्वारा तैयार की हुई

जपमाला सब कामोंमें सबके लिये अभीष्ट फल प्रदान करनेवाली होती है।' श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

जपस्य पुरतः कृत्वा प्राणायामत्रयं बुधः।
मन्त्रार्थस्मृतिपूर्वं च जपेदष्टोत्तरं शतम्॥
शक्तोऽष्टाधिकसाहस्रं जपेत्तं चार्पयञ्जपम्।
प्राणायामांश्च कृत्वा त्रीन्दद्यात् कृष्णकरे जलम्॥

'बुद्धिमान् मनुष्य जप करनेके पहले तीन बार प्राणायाम करके मन्त्रार्थका स्मरण करते हुए एक सौ आठ बार जप करे और सामर्थ्य होनेपर एक हजार आठ बार जप करे। जपके अन्तमें तीन बार प्राणायाम करके—

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थिते॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

—इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए तथा श्रीकृष्णके हाथमें जल अर्पण करते हुए उनको जप समर्पण करे।' नारदपञ्चरात्रमें आया है—

शनैः शनैः सुविस्पष्टं न द्रुतं न विलम्बितम्।
न न्यूनं नाधिकं वापि जपं कुर्याद् दिने दिने॥

'धीरे-धीरे अत्यन्त स्पष्ट रूपसे जप करे, परंतु जल्दी-जल्दी या रुक-रुककर तथा कभी न्यून और कभी अधिक जप न करे। अर्थात् प्रतिदिन नियमित संख्याका जप करे।' त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रमें कहा गया है—

तूष्णीमासीत संजल्पश्चाण्डालपतितादिकान्।
दृष्ट्वा तान् वाथ संभाष्य स्नात्वा पुनर्जपेत्॥
आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।
यदि वा जपलोपः स्याज्जपादिषु कथंचन॥
व्याहरेद्वैष्णवं मन्त्रं स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम्॥

'मौन होकर बैठकर जप करे। जप करते समय किसी चाण्डाल या पतितको देख ले तो आचमन करके और उनके साथ बातचीत होनेपर स्नान करके पुनः जप करे। अपवित्र-पदार्थका दर्शन होनेपर आचमन करके पुनः यत्नपूर्वक जप करे। जप करते-करते यदि कदाचित् जपका नियम भङ्ग हो जाय तो विष्णु-मन्त्रका उच्चारण करे अथवा अव्यय विष्णुभगवान्का स्मरण करे।' जपके भेदोंके विषयमें नृसिंहपुराणका वचन है—

त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदान्निबोधत।
वाचिकश्च उपांशुश्च मानसश्च त्रिधा मतः॥
त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरः॥
यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टशब्दवदक्षरैः।
मन्त्रमुच्चारयेद्व्यक्तं जपयज्ञः स वाचिकः॥
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ प्रचालयेत्।
किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्यादुपांशुः स जपः स्मृतः॥
धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात्पदम्।
शब्दार्थचिन्तनाभ्यासः स उक्तो मानसो जपः॥

'जपयज्ञ तीन प्रकारका होता है—वाचिक, उपांशु और मानस। इनके भेदोंको सुनो। तीनोंमें पहले-पहलेकी अपेक्षा दूसरा-दूसरा श्रेष्ठ है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरके संयोगसे स्पष्ट शब्दयुक्त अक्षरोंके द्वारा स्पष्टरूपसे मन्त्रोच्चारण करना 'वाचिक जप' कहलाता है। जिसमें धीरे-धीरे मन्त्रका उच्चारण किया जाय, दोनों ओष्ठ थोड़े-थोड़े हिलते रहें और जिसमें किञ्चिन्मात्र ही शब्द स्वयं सुननेमें आयें—इस प्रकारके जपको 'उपांशु जप' कहते हैं। जब मन-ही-मन मन्त्रके प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक पदका विचार करते हुए तथा उसके अर्थका बुद्धिके द्वारा चिन्तन करते हुए जो बार-बार मन्त्रकी आवृत्ति की जाती है, उसको मानस जप कहते हैं।'

उपांशुजपयुक्तस्य तस्माच्छतगुणो भवेत्।
सहस्रो मानसः प्रोक्तो यस्माद् ध्यानसमो हि सः॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

'वाचिक जपकी अपेक्षा उपांशु जपका फल सौगुना अधिक होता है और सहस्रगुना अधिक फल होता है मानस जपका; क्योंकि मानस जप तो ध्यानके ही तुल्य होता है।' शिवागमका वचन है—

अनामामध्यमाक्रम्य जपं कुर्यात्तु मानसम्।
मध्यमामध्यमाक्रम्य जपं कुर्यादुपांशुकम्॥
तर्जनीं तु समाक्रम्य जपं नैव तु कारयेत्।
एकैकमणिमङ्गुष्ठेनाकर्षन् प्रजपेन्मनुम्॥
मेरौ तु लङ्घिते देवि! न मन्त्रफलभाग्भवेत्॥

'अनामिकाके मध्यको आक्रमण करके अर्थात् अनामिकाके मध्य भागमें जपमाला रखकर एक-एक मणिको अङ्गुष्ठसे खींचते हुए मानस मन्त्र जप करे और उपांशुजप मध्यमा अङ्गुलिके मध्यमें जपमाला रखकर करे। परंतु तर्जनीके द्वारा मालाका स्पर्श करके जप कभी न करे। हे देवि! मेरुका उल्लङ्घन करनेपर जपका फल नहीं प्राप्त होता। अर्थात् मेरुके पास जप करते-करते जब पहुँचे तो उसको लाँघे नहीं,

बल्कि वहींसे जप करता हुआ लौटे ।' नारद-पञ्चरात्रमें लिखा है—

वदन्न गच्छन्न स्वपन्नान्यत् किमपि संस्मरन् ।
न क्षुज्जृम्भणहिक्कादिविकलीकृतमानसः ॥
मन्त्रसिद्धिमवाप्नोति तस्माद् यत्नपरो भवेत् ॥

'बातें करते, राह चलते, नींद लेते, दूसरी बातका स्मरण करते अथवा छींक, जँभाई और हिचकी आदिके द्वारा चञ्चलचित्त होकर जप करनेसे मन्त्रसिद्धि नहीं होती। अतएव जप करते समय सावधान रहना चाहिये।' तथा—

अङ्गुल्यग्रेषु यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलङ्घने ।
असंख्या तं च यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥

(व्यासस्मृति)

'अङ्गुलिके अग्रभागसे जप करनेपर, मेरुका लङ्घन करनेपर तथा बिना संख्याके जप करनेपर वह सब जप निष्फल हो जाता है।'

भूतराक्षसवेतालाः सिद्धगन्धर्वचारणाः ।
हरन्ति प्रकटं यस्मात्तस्माद्गुप्तं जपेत्सुधीः ॥

'मालाको खुली रखकर जप करनेसे उसे भूत, राक्षस, बेताल, सिद्ध, गन्धर्व, चारण हर लेते हैं; अतः गुप्तरूपसे जप करना ही बुद्धिमान् पुरुषका कर्तव्य है।'

पूजा-विधि-विवेक

न्यास, प्राणायाम, भूतशुद्धि, आवाहन, विसर्जन आदि नाना प्रकारके बाह्य अनुष्ठानोंके साथ जो पूजा होती है, उसको जपाङ्ग पूजा कहते हैं। परंतु श्रवण-कीर्तन आदि जो नौ प्रकारका अनुष्ठान है, वह भक्तिका अङ्ग है; उसको भक्त्यङ्ग पूजा कहते हैं। उसे भक्तिनिष्ठ साधक न्यास आदिके बिना भी कर सकता है।

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥

'यद्यपि श्रीविष्णुकी प्रतिमा-पूजा प्रसिद्ध सामग्रियोंके द्वारा सम्पन्न होती है, तथापि जो निष्काम भक्त है, उसकी पूजामें हृदयका भाव ही प्रधान होता है, सामग्री चाहे जो हो।'

एकादशी-व्रत

तिथि और नक्षत्रका परिमाण ६० दण्ड (घड़ी) होता है। परंतु शास्त्रकार इनकी तीन अवस्थाएँ बतलाते हैं—सम्पूर्ण, क्षय और वृद्धि। सम्पूर्ण तिथिका मान ६० दण्ड होता है, क्षयका ६० दण्डसे कम और वृद्धिका ६० दण्डसे अधिक।

स्कन्दपुराणमें आया है—

प्रतिपत्प्रभृतयः सर्वा उदयादोदयाद्रवेः ।
सम्पूर्णा इति विख्याता हरिवासरवर्जिताः ॥

अर्थात् सूर्योदयसे लेकर दूसरे दिनके सूर्योदयतक व्याप्त तिथि सम्पूर्णा कहलाती है; परंतु एकादशीके विषयमें यह बात नहीं है। क्योंकि—

आदित्योदयवेलायाः प्राङ्मुहूर्तद्वयान्विता ।
एकादशी तु सम्पूर्णा विद्धान्या परिकीर्तिता ॥

(भविष्यपुराण)

''एकादशी यदि सूर्योदयसे चार दण्ड पूर्व प्रवृत्त होकर दूसरे दिन सूर्योदयतक रहे तो उसको 'सम्पूर्णा' कहेंगे, अन्यथा वह विद्धा हो जायगी।''

एकादश्यां निराहारो यो भुङ्क्ते द्वादशीदिने ।
शुक्ले वा यदि वा कृष्णे तद्व्रतं वैष्णवं महत् ॥

(भविष्यपुराण।)

'शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षमें एकादशीको निराहार रहकर जो द्वादशीके दिन भोजन करता है, उसका यह व्रत महान् वैष्णव व्रत होता है अर्थात् यह व्रत विष्णुभगवान्‌को अति प्रिय है।'

नमो भगवते तस्मै यस्य प्रियतमा तिथिः ।
एकादशी द्वादशी च सर्वाभीष्टप्रदा नृणाम् ॥
इत्थं च नित्यं कुर्वाणः कृष्णपूजामहोत्सवम् ।
हरेर्दिने विशेषेण कुर्यात्तं पक्षयोर्द्वयोः ॥
तत्र व्रतस्य नित्यत्वादवश्यं तत्समाचरेत् ।
सर्वपापापहं सर्वार्थदं श्रीकृष्णतोषणम् ॥
तच्च कृष्णप्रीणनत्वाद् विधिप्राप्तत्वतस्तथा ।
भोजनस्य निषेधाच्चाकरणे प्रत्यवायतः ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास।)

'जिनकी परम प्रिय एकादशी और द्वादशी तिथियाँ मनुष्योंको सर्वाभीष्ट प्रदान करती हैं, उन श्रीभगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ। नित्य यथाविधि श्रीकृष्णकी पूजाका महोत्सव करते हुए उभय पक्षके हरिवासर अर्थात् एकादशी और द्वादशीके दिन यह पूजा-महोत्सव विशेषरूपसे करे। यह नित्य व्रत है, अतएव अवश्यकरणीय है। यह व्रत

अनुष्ठान करनेपर सब प्रकारके पापोंका नाश, सर्वाभीष्ट-प्रदान तथा श्रीकृष्णकी संतुष्टि करनेवाला है। यह व्रत अवश्य ही करने योग्य है; क्योंकि इसके द्वारा श्रीकृष्ण संतुष्ट होते हैं। इसके करनेका शास्त्रमें विधान है, भोजनका इसमें निषेध किया गया है तथा इस व्रतका अनुष्ठान न करनेसे पाप लगता है।'

अरुणोदयवेलायां दशमीसंयुता यदि।
अत्रोपोष्या द्वादशी स्यात्त्रयोदश्यां तु पारणम्॥
(कण्वसंहिता)

बहुवाक्यविरोधेन संदेहो जायते यदा।
उपोष्या द्वादशी तत्र त्रयोदश्यां तु पारणम्॥
(नारदपुराण)

'यदि अरुणोदयके समय दशमी हो अर्थात् दशमी-विद्धा एकादशी हो, अथवा एकादशीके सम्बन्धमें विभिन्न मतोंके कारण मनमें संदेह पैदा हो जाय तो द्वादशीको उपवास करके त्रयोदशीको पारण करे।'

एकादशी तथा षष्ठी पौर्णमासी चतुर्दशी।
तृतीया च चतुर्थी च अमावस्याष्टमी तथा।
उपोष्या परसंयुक्ता नोपोष्या पूर्वसंयुता॥
(शारदापुराण)

'एकादशी, षष्ठी, पौर्णमासी, चतुर्दशी, तृतीया, चतुर्थी, अमावास्या तथा अष्टमी—इन तिथियोंको व्रत करना हो तो पूर्वतिथिसे संयुक्त दिनको उपवास न करे, अगली तिथिसे संयुक्त होनेपर उपवास करे।' जैसे एकादशीव्रत करना हो तो दशमीविद्धा एकादशीमें न करे, बल्कि द्वादशीविद्धामें करे।

पद्मपुराणमें लिखा है—

वर्णानामाश्रमाणां च स्त्रीणां च वरवर्णिनि।
एकादश्युपवासस्तु कर्तव्यो नात्र संशयः॥

'ब्राह्मणादि चारों वर्णों, ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों और स्त्रीजातिके लिये भी एकादशीका उपवास अवश्यकर्तव्य है।'

एकादश्युपवासं यः सदा तु कुरुते नरः।
स याति परमं स्थानं यत्र देवो हरिः स्थितः॥
(अग्निपुराण)

'जो मनुष्य सदा एकादशीका उपवास करता है, वह (मरनेपर) उस परम धामको जाता है, जहाँ श्रीहरि नित्य निवास करते हैं।' वैष्णवके लिये एकादशीका व्रत अनिवार्य है। गौतमीय तन्त्रमें लिखा है—

वैष्णवो यदि भुञ्जीत एकादश्यां प्रमादतः।
विष्णवर्चनं वृथा तस्य नरकं घोरमाप्नुयात्॥

'यदि वैष्णव प्रमादवश एकादशीको भोजन करता है तो उसकी विष्णुपूजा व्यर्थ जाती है और वह घोर नरकमें गिरता है।'

द्वादशी-व्रतकी महिमामें विष्णुपुराणका वचन है—

ॐकारः सर्ववेदानां यथा चाद्यः प्रपूजितः।
तथा सर्वव्रतानां च द्वादशीव्रतमुत्तमम्॥

'जैसे ॐकार सब वेदोंमें प्रथम पूजित होता है, उसी प्रकार सब व्रतोंमें द्वादशी-व्रत श्रेष्ठ है।' विष्णुरहस्यमें भी आया है—

मनसापि चिकीर्षन्ति द्वादशीं ये नरोत्तमाः।
तेऽपि घोरं न पश्यन्ति संसारदुःखसागरम्॥

'जो नरश्रेष्ठ मनमें भी द्वादशी-व्रत करनेकी इच्छा करते हैं, वे पुनः इस भयंकर संसाररूपी दुःखसागरको नहीं देखते, अर्थात् आवागमनसे छूट जाते हैं।'

काश्यप-पञ्चरात्रमें श्रीभगवान् कहते हैं—

मदुत्थाने मच्छयने मत्पार्श्वपरिवर्तने।
अन्नं वा यदि भुञ्जीत फलमूलमथापि वा।
अपराधमहं तस्य न क्षमामि कदाचन॥

'देवोत्थानी (कार्तिक-शुक्ला) एकादशी, देवशयनी (आषाढ शुक्ला) एकादशी तथा देव-पार्श्व-परिवर्तनी (भाद्रपद शुक्ला)—इन तीन एकादशियोंको अन्न अथवा फल-मूल भी ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे दोष लगता है और उस दोषको भगवान् क्षमा नहीं करते।'

उपवासके पूर्व दिन प्रातःस्नान आदि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर धौतवस्त्र एवं सुन्दर वेश धारण करके वैष्णवको एकादशी-व्रतका इस मन्त्रसे संकल्प करना चाहिये—

दशमीदिनमारभ्य करिष्येऽहं व्रतं तव।
त्रिदिनं देवदेवेश निर्विघ्नं कुरु केशव॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'हे देवाधिदेव केशव! मैं दशमीसे आरम्भ करके तीन दिन आपका व्रत करूँगा। मेरे इस व्रतको निर्विघ्न पूरा करें।'

नारदपुराणमें कहा गया है—

> प्रातर्हरिदिनं लोकास्तिष्ठध्वं चैकभोजनाः ।
> अक्षारलवणाः सर्वे हविष्यान्ननिषेविणः ॥
> अवनीतल्पशयनाः प्रियासङ्गविवर्जिताः ।
> स्मरध्वं देवमीशानं पुराणं पुरुषोत्तमम् ॥
> सकृद्भोजनसंसक्ता द्वादश्यां च भविष्यथ ॥

'हे मनुष्यो ! कल भगवान् विष्णुका दिन (एकादशी) है; अतः आज केवल एक बार भोजन करो, क्षार और लवण-का सेवन न करो । सब लोग केवल हविष्यान्न ग्रहण करो । भूमिपर शयन करो, स्त्रीप्रसङ्गका त्याग करो । पुराणपुरुष देवाधिदेव श्रीजनार्दनका स्मरण करो तथा द्वादशीको केवल एक बार भोजन करो ।'

एकादशीके दिन प्रातःस्नानादि कृत्य करके भगवान्की अर्चना करे और तत्पश्चात् इस प्रकार संकल्प करे—

> एकादश्यां निराहारः स्थित्वाहमपरेऽहनि ।
> भोक्ष्यामि पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत ॥

अर्थात् 'हे अच्युत ! हे पुण्डरीकाक्ष ! मैं आज एकादशी-के दिन निराहार रहकर दूसरे दिन भोजन करूँगा । मुझे शरण प्रदान करो ।'

> उच्चारयन्निमं मन्त्रं श्रीकृष्णचरणाब्जयोः ।
> पुष्पाञ्जलिं समर्प्याथ मन्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥
> अष्टाक्षरेण मन्त्रेण त्रिजप्तेनाभिमन्त्रितम् ।
> उपवासफलं प्रेप्सुः पिबेत्तोयं समाहितः ॥

'उक्त संकल्प-मन्त्रका उच्चारण करके श्रीकृष्णके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि प्रदान करके मन्त्रपूत जल पान करे । उपवासके फलकी आकाङ्क्षा करनेवाला 'ॐ नमो नारायणाय'—इस अष्टाक्षर मन्त्रको तीन बार पढ़कर उससे जलको अभिमन्त्रित करके समाहित चित्तसे पान करे ।' उपवास-शब्दका अर्थ इस प्रकार है—

> उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।
> उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः ॥
>
> (श्रीहरिभक्तिविलास)

अर्थात् 'समस्त पापोंसे निवृत्त होकर गुणोंके साथ अव-स्थित होनेका नाम उपवास है । उपवासमें समस्त भोगोंका त्याग करना आवश्यक है ।'

व्यासजी कहते हैं—

> पुष्पालंकारवस्त्राणि गन्धधूपानुलेपनम् ।
> उपवासे च दुष्यन्ति दन्तधावनमञ्जनम् ॥

'पुष्प, अलंकार, वस्त्र, गन्ध, धूप और चन्दनादिलेप, दन्तधावन और अञ्जन—ये उपवासमें वर्जित हैं ।'

> असत्यभाषणं द्यूतं दिवास्वापं च मैथुनम् ।
> एकादश्यां न कुर्वीत उपवासपरो नरः ॥

'उपवासी मनुष्य एकादशीके दिन मिथ्याभाषण, जूआ खेलना, दिनमें सोना और स्त्रीप्रसङ्ग न करे ।' इसके सिवा—

> विना जागरणं गौरि विष्णोर्दिनफलं न हि ।
>
> (स्कन्दपुराण)

शिवजी कहते हैं कि 'हे पार्वति ! हरिवासरकी रात्रिमें जागरण किये बिना व्रतका फल नहीं मिलता ।' स्कन्दपुराणमें आया है—

> शृणु नारद वक्ष्यामि जागरस्य तु लक्षणम् ।
> येन विज्ञातमात्रेण दुर्लभो न जनार्दनः ॥
> गीतं[1] वाद्यं[2] च नृत्यं[3] च पुराणपठनं[4] तथा ।
> धूपं[5] दीपं[6] च नैवेद्यं[7] पुष्प[8]गन्धा[9]नुलेपनम्[10] ॥
> फल[11]मर्घ्यं[12] च श्रद्धा[13] च दान[14]मिन्द्रियनिग्रहः[15] ।
> सत्यान्वितं[16] विनिद्रं[17] च मुदा[18]युक्तं क्रिया[19]न्वितम् ॥
> साश्चर्यं[20] चैव सोत्साहं[21] पापालस्यादिवर्जितम्[22] ।
> प्रदक्षिणा[23]भिः संयुक्तं नमस्कार[24]पुरस्सरम् ॥
> नीराजन[25]समायुक्तमनिर्विण्णेन चेतसा ।
> यामे यामे महाभाग कुर्यादारात्रिकं[26] हरेः ॥
> अभावे वाचकस्याथ गीतं नृत्यं च कारयेत् ।
> वाचके सति देवेशि पुराणं प्रथमं पठेत् ॥

'हे नारद ! जागरणके नियम बतलाता हूँ, श्रवण करो । इसको जाननेके बाद श्रीजनार्दन दुर्लभ नहीं रह जाते । हे महाभाग ! श्रीहरिके जागरणमें एकाग्र चित्तसे गीत[1], वाद्य[2], नृत्य[3], पुराण-पाठ[4], धूप[5], दीप[6], नैवेद्य[7], पुष्प[8], गन्ध[9] (इत्र आदि), चन्दनादिका लेप[10], फल[11], अर्घ्य[12] और श्रद्धा[13], दान[14] और इन्द्रियसंयम[15], सत्य[16]निष्ठा, निद्राहीनता[17], आनन्द-प्रकाश[18], क्रियानुष्ठान[19], विस्मय[20] और उत्साह[21]प्रदर्शन, पाप और आलस्य आदिका त्याग[22], प्रदक्षिणा[23], नमस्कार[24], नीराजन[25] और पहर-पहरमें आरती[26] करे । इस प्रकार छब्बीस गुणोंसे युक्त होकर श्रीहरिकी उपासना करता हुआ जागरण करे । शंकरजी कहते हैं—'हे पार्वति ! वाचकका अभाव हो तो केवल गीत-

नृत्यादि ही कराये। परंतु वाचकके रहनेपर पहले पुराण-पाठ कराये।'

पारणके दिन प्रातःकाल मङ्गल-आरती करके वैष्णवोंको प्रसाद देकर सम्मानपूर्वक विदा करे। पश्चात् प्रातःकालीन पूजा समाप्त करके सब कुछ श्रीकृष्णको समर्पण करे। समर्पणका मन्त्र—

अज्ञानतिमिरान्धस्य व्रतेनानेन केशव।
प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'हे केशव! मैं अज्ञानान्धकारसे अंधा हो रहा हूँ। इस व्रतके द्वारा हे प्रभो! तुम अनुकूल होकर मुझे ज्ञानदृष्टि प्रदान करो।'

द्वादशीके दिन श्रीहरिको स्नान नहीं कराना चाहिये, अतएव रात्रिमें स्नान कराये। परंतु पवित्रारोपण तथा दमनकारोपणके दिन रात्रिको भी स्नान कराना मना है।

नित्यकृत्यं समाप्याथ शक्त्या विप्रांश्च भोजयेत्।
कुर्वीत द्वादशीमध्ये तुलसीं प्राश्य पारणम्॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'नित्यकृत्य समाप्त करके यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन कराये और द्वादशीके भीतर तुलसीदल ग्रहण करके पारण करे।'

मन्त्रं जपित्वा हरये निवेद्योपोषणं व्रती।
अद्भिस्तु पारणं कुर्यात् संकटे विषमे सति॥
(कात्यायन)

'विषम संकट उपस्थित होनेपर व्रती मन्त्र-जप करके अपना व्रत श्रीहरिको समर्पण करे और भगवान्के चरणोदकके द्वारा ही पारण कर ले।'

अष्ट-महाद्वादशी

उन्मीलनी वञ्जुली च त्रिस्पृशा पक्षवर्द्धिनी।
जया च विजया चैव जयन्ती पापनाशिनी॥
द्वादश्योऽष्टौ महापुण्याः सर्वपापहरा द्विजाः।
तिथियोगेन जायन्ते चतस्रश्चापरास्तथा॥
नक्षत्रयोगाच्च बलात् पापं प्रशमयन्ति ताः॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'उन्मीलनी, वञ्जुली, त्रिस्पृशा, पक्षवर्द्धिनी, जया, विजया, जयन्ती और पापनाशिनी—ये आठ महाद्वादशियाँ महापुण्यस्वरूपिणी हैं तथा सब पापोंका नाश करनेवाली हैं। इनमें प्रथम चार तिथियोगसे तथा दूसरी चार नक्षत्रयोगके बलसे आती हैं और ये बलपूर्वक पापका नाश करती हैं।' तथा—

एकादशी तु सम्पूर्णा वर्द्धते पुनरेव सा।
द्वादशी च न वर्द्धेत कथितोन्मीलनीति सा॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

"एकादशी सम्पूर्णा होकर यदि दूसरे दिन वृद्धिको प्राप्त होती है, परंतु द्वादशी (त्रयोदशीके दिन) बढ़ती नहीं, तो एकादशीमें व्रत न करके द्वादशीको व्रत करे। यह द्वादशी 'उन्मीलनी' कहलाती है।" द्वादशीमें उपवास करके त्रयोदशीमें पारण करनेसे सैकड़ों यज्ञका फल प्राप्त होता है। यह उन्मीलनी द्वादशी व्रतीकी संतानवृद्धि करती है।

द्वादश्येव विवर्द्धेत न चैवैकादशी यदा।
वञ्जुली तु भृगुश्रेष्ठ कथिता पापनाशिनी॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

"जब एकादशीकी वृद्धि न होकर, द्वादशी दूसरे दिन बढ़ती हो, तब वह 'वञ्जुली' कहलाती है और उस दिन उपवास करनेसे पापोंका नाश होता है।" पद्मपुराणमें लिखा है—

शुक्लपक्षे तथा कृष्णे यदा भवति वञ्जुली।
एकादशीदिने भुक्त्वा द्वादश्यां कारयेद्व्रतम्॥
पारणं द्वादशीमध्ये त्रयोदश्यां न कारयेत्॥

'शुक्ल या कृष्णपक्षमें जब वञ्जुली द्वादशी होती है, तब एकादशीको भोजन करके द्वादशीको व्रत करे। तथा त्रयोदशीके पहले वृद्धा द्वादशीमें ही पारण करे, त्रयोदशीको पारण न करे।'

अरुणोदय आद्या स्याद् द्वादशी सकलं दिनम्।
अन्ते त्रयोदशी प्रातस्त्रिस्पृशा सा हरेः प्रिया॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

"अरुणोदयके समय एकादशी, फिर दिन-रात द्वादशी और अन्तमें प्रातःकाल त्रयोदशी होनेपर वह 'त्रिस्पृशा द्वादशी' कहलाती है। यह श्रीहरिको अति प्रिय है और महापुण्यदायिनी है।"

दर्शश्च पौर्णमासी च सम्पूर्णा यदि वर्द्धते।
द्वितीयेऽह्नि नृपश्रेष्ठ सा भवेत् पक्षवर्द्धिनी॥

"यदि अमावास्या या पौर्णमासी सम्पूर्ण होकर प्रतिपदाके दिनतक वृद्धिको प्राप्त हो तो उसके पूर्वकी द्वादशी 'पक्षवर्द्धिनी' कहलाती है।' ऐसी स्थितिमें एकादशीको

छोड़कर द्वादशीको व्रत करना चाहिये । यह द्वादशी व्रतीको हजारों अश्वमेध यज्ञका फल प्रदान करती है ।

द्वादश्यां तु सिते पक्षे यत्रर्क्षं यदि पुनर्वसुः ।
नाम्ना सा तु जया ख्याता तिथीनामुत्तमा तिथिः ॥
तामुपोष्य नरो घोरे नरके नैव मज्जति ।
अग्निष्टोमादियज्ञानां फलमाप्नोत्यसंशयः ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

"शुक्लपक्षकी द्वादशीमें पुनर्वसु नक्षत्रका योग होनेसे उसको 'जया' कहते हैं । यह जया सब तिथियोंमें श्रेष्ठ है, इसमें उपवास करके मनुष्य नरकमें नहीं पड़ता । उसको निश्चयपूर्वक अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ।"

यदा तु शुक्लद्वादश्यां नक्षत्रं श्रवणं भवेत् ।
तदा सा तु महापुण्या द्वादशी विजया स्मृता ॥
होमस्तत्रोपवासश्च सहस्रगुणितो भवेत् ॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

"शुक्ल द्वादशीके साथ श्रवण नक्षत्रका योग होनेपर वह महापुण्यस्वरूपा द्वादशी 'विजया' कहलाती है । उसमें होम और उपवास करनेपर हजारगुना फल प्राप्त होता है ।"

यदा तु शुक्लद्वादश्यां प्राजापत्यं प्रजायते ।
जयन्ती नाम सा प्रोक्ता सर्वपापहरा तिथिः ॥
(ब्रह्मपुराण)

"शुक्ल द्वादशीमें रोहिणी नक्षत्रका योग हो तो वह 'जयन्ती' द्वादशी कहलाती है और वह सब पापोंको हर लेती है ।"

यदा तु शुक्लद्वादश्यां पुष्या भवति कर्हिचित् ।
तदा तु सा महापुण्या कथिता पापनाशिनी ॥
(ब्रह्मपुराण)

"शुक्ल द्वादशी जब कभी पुष्य नक्षत्रसे युक्त होती है, तब उस महापुण्यमयी तिथिको 'पापनाशिनी' कहते हैं ।" इसमें उपवास करनेसे सहस्रों एकादशीव्रतका फल प्राप्त होता है ।

भैमी एकादशी

यद्यष्टमीचतुर्दश्योर्द्वादशीष्वथ भारत ।
अन्येष्वपि दिनर्क्षेषु न शक्तस्त्वमुपोषितुम् ॥
ततः पुण्यामिमां भीम तिथिं पापप्रणाशिनीम् ।
उपोष्य विधिनानेन गच्छ विष्णोः परं पदम् ॥
(मत्स्यपुराण)

'हे भीम ! अष्टमी, चतुर्दशी, द्वादशी तथा अन्य दिन या नक्षत्रमें यदि तुम उपवास करनेमें समर्थ न हो तो पातकहारिणी, पुण्यस्वरूपा भीमतिथिमें अर्थात् माघी शुक्ला एकादशीको विधिपूर्वक उपवास करके श्रीहरिके परम पदको अर्थात् श्रीवैकुण्ठधामको गमन करो ।'

गोविन्दद्वादशी

फाल्गुनामलपक्षे तु पुष्यर्क्षे द्वादशी यदि ।
गोविन्दद्वादशी नाम महापातकनाशिनी ॥
तस्यामुपोष्य विधिवन्नरः संक्षीणकल्मषः ।
प्राप्नोत्यनुत्तमां सिद्धिं पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥
(ब्रह्मपुराण)

"फाल्गुन मासके शुक्लपक्षमें जब द्वादशी पुष्यनक्षत्रसे युक्त होती है, तब उसको 'गोविन्दद्वादशी' कहते हैं । वह महापातक-नाशिनी है । उसमें विधिपूर्वक उपवास करनेसे पाप नष्ट होते हैं, श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त होती है तथा मनुष्य जरा-मरणसे मुक्त हो जाता है ।"

निर्जला एकादशी

पितामह ह्यशक्तोऽहमुपवासे करोमि किम् ।
अतो बहुफलं ब्रूहि व्रतमेकमपि प्रभो ॥
वृषस्थे मिथुनस्थेऽर्के शुक्ला ह्येकादशी हि या ।
ज्येष्ठे मासि प्रयत्नेन सोपोष्या जलवर्जिता ॥
स्नाने वाऽऽचमने चैव वर्जयित्वोदकं बुधः ।
उपभुञ्जीत नैवान्यद् व्रतभङ्गोऽन्यथा भवेत् ॥
उदयादुदयं यावद् वर्जयित्वा जलं बुधः ।
स प्रयत्नादवाप्नोति द्वादशद्वादशीफलम् ॥
संवत्सरस्य या मध्ये एकादश्यो भवन्ति हि ।
तासां फलमवाप्नोति पुत्र मे नात्र संशयः ॥
(पद्मपुराण)

भीम बोले—'हे पितामह ! मैं उपवास करनेमें असमर्थ हूँ, क्या करूँ ? आप बहुत फल प्रदान करनेवाले एक ही व्रतको बतला दीजिये ।' तब व्यासजीने कहा—'हे वत्स ! वृष या मिथुन राशिके सूर्यमें ज्येष्ठ मासमें जो शुक्ला एकादशी आती है, उसमें जल-त्याग करके उपवास करना चाहिये । बुद्धिमान् मनुष्य स्नान और आचमनके अतिरिक्त और किसी भी प्रकार जलका उपभोग न करे, करनेसे व्रत-भङ्ग हो जाता है । बुद्धिमान् पुरुष सूर्योदयसे सूर्योदयतक प्रयत्नपूर्वक जल-त्याग करे । यों करनेसे उसको बारह महीनों की द्वादशीका फल प्राप्त होता है । हे पुत्र ! इतना ही नहीं,

निस्संदेह उसको सालभरकी सभी एकादशियोंका फल मिल जाता है।'

श्रवण-द्वादशी और विष्णुश्रृङ्खलयोग

स्कन्दपुराणका वचन है—

मासि भाद्रपदे शुक्ला द्वादशी श्रवणान्विता ।
महती द्वादशी ज्ञेया उपवासे महाफला ॥
बुधश्रवणसंयुक्ता सैव चेद् द्वादशी भवेद् ।
अत्यन्तमहती तस्यां दत्तं भवति चाक्षयम् ॥

"भाद्रपदकी शुक्ला द्वादशी यदि श्रवणनक्षत्रसे युक्त हो तो उसको 'महाद्वादशी' कहते हैं, उसमें उपवास करनेसे महान् फल होता है। वही द्वादशी यदि बुधवार और श्रवण-नक्षत्र दोनोंसे युक्त हो तो वह और भी अधिक महती तिथि हो जाती है; उसमें जो कुछ दान किया जाता है, वह अक्षय हो जाता है।" मत्स्यपुराणमें लिखा है—

द्वादशी श्रवणस्पृष्टा स्पृशेदेकादशीं यदा ।
स एव वैष्णवो योगो विष्णुश्रृङ्खलसंज्ञितः ॥
तस्मिन्नुपोष्य विधिवन्नरः संक्षीणकल्मषः ।
प्राप्नोत्यनुत्तमां सिद्धिं पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥

यदि एक ही अहोरात्रमें किसी समय श्रवणयुक्ता द्वादशी शुक्ला एकादशीको स्पर्श करती है, अर्थात् व्रतविहित एकादशीके दिन यदि एकादशीके साथ द्वादशी और श्रवण-नक्षत्रका भी योग हो तो वह विष्णुविश्रृङ्खल योग कहलाता है। उस दिन जो मनुष्य विधिवत् उपवास करता है, उसके पाप भली-भाँति नष्ट हो जाते हैं, उसको आवागमनसे छुटकारा मिल जाता है और उसे अति उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है।' दूसरा विष्णुविश्रृङ्खल योग तब होता है, जब एकादशी और द्वादशी दोनों तिथियाँ एक ही दिन श्रवणनक्षत्रसे युक्त होती हैं। विष्णुधर्मोत्तरका वचन है—

एकादशी द्वादशी च वैष्णव्यमपि तद्भवेत् ।
तद्विष्णुश्रृङ्खलं नाम विष्णुसायुज्यकृद्भवेत् ॥

(क्रमशः)

मानसमें माता कौसल्याकी महत्ता

(लेखक—श्रीकुन्दनलालजी नन्हौरया)

पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानसमें माता कौसल्याका चरित्र उज्ज्वल, पवित्र तथा सौजन्यपूर्ण होनेके नाते अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। वाणी और लेखनी-द्वारा उसका वर्णन हो नहीं सकता; फिर भी उनके महान् व्यक्तित्वकी एक झलक देखनेका प्रयत्न किया जाता है।

पूर्वाभास—माता कौसल्या पूर्वजन्ममें स्वायम्भुव मनुकी धर्म-पत्नी शतरूपा रानीके नामसे विख्यात हैं। इन दम्पतिके उग्र तपसे प्रसन्न होकर—

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥

और फिर—

बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि ।
मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि ॥

तब स्वायम्भुव मनु अपनी इच्छा इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं—

दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ ॥

पहले 'एवमस्तु' कहकर फिर भगवान् कहते हैं—

आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥

पति-पत्नीके जन्म-जन्मान्तरका सम्बन्ध होनेके कारण शतरूपा रानीको यह समझनेमें देर नहीं लगती कि इन भगवान्‌को गर्भमें धारण करनेके सुखके साथ पुत्रके रूपमें इन-की प्राप्ति भी पहले मुझे होगी। अतः जब शतरूपाजीको हाथ जोड़े हुए देखकर भगवान् कहते हैं—

देबि मागु बरु जो रुचि तोरें ।

—तब वे तुरंत कह देती हैं—

जो बरु नाथ चतुर नृप मागा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥

तत्पश्चात् पहले अपना संशय और फिर 'कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई' में अपना विश्वास बताकर माँगती हैं—

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥

कोमल, गूढ़ और मनोहर रचनायुक्त ऐसी वर-याचनाको सुनकर भगवान् भी कोमल वाणीसे कह देते हैं—

जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥

शतरूपाजीके मनमें जो कुछ भी इच्छा है वह सब भगवान् तुरंत ही दे तो देते ही हैं और फिर कहते हैं कि 'इसमें कोई संदेह नहीं समझना।' साधारणतया इसके आगे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, परंतु फिर भी भगवान् इतना दुहराते हैं—

मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥

स्वायम्भुव मनुको वरदान देते समय 'नृप' कहकर सम्बोधन करते हैं, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है; परंतु शतरूपाजीको यहींसे भगवान् अपनी माता बना लेते हैं और कहते हैं कि 'माँग तो रही हो विवेक; परंतु तुम्हारे पास यह जो अलौकिक विवेक है, वह मेरी कृपासे कभी मिटनेवाला नहीं। स्पष्ट है कि शतरूपाजीके मनमें ऐसी उथल-पुथल तथा हलचल अवश्य होती रही है कि ऐसे ब्रह्मादिजनक, जगदीश, ब्रह्म, अन्तर्यामी, महान् लीलामय प्रभुकी माताके पदपर प्रतिष्ठित होकर मुझसे कभी कुछ ऐसा न बन जाय, जिसके कारण मेरे इन प्रभुको असमंजसमें पड़ना पड़े, अथवा इनके मातृपदपर कहींसे कोई विन्दुमात्रका छींटा लग जाय। अतएव विवेक पानेके लिये ठीक ही याचना करती हैं। माताके इसी अलौकिक विवेकके सम्बन्धमें निम्नाङ्कित पंक्तियाँ लिखनेका प्रयास किया जाता है—

(१) आज पिछले पहर उठते समयसे ही माता कौसल्याके मनमें उमंगकी लहरें उठ रही हैं; क्योंकि श्रीरामजीका राज्याभिषेक होनेवाला है। इतनेमें सूर्योदय होते-होते कैकेयी-भवनसे सचिव-सुतको साथ लिये हुए श्रीरामजी प्रसन्न मुद्रामें माता कौसल्याके पास आते हैं। यथा—

मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा सोचु जनि राखै राऊ॥

और—

रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातु पद नायउ माथा॥

बस, माताका हृदय आनन्दविभोर हो जाता है और वे—

दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन बसन निछावरि कीन्हे॥
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥
गोद राखि पुनि हृदयँ लगाए। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाए॥
प्रेमु प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनद पदबी जनु पाई॥
सादर सुंदर बदनु निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥

कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥
सुकृत सील सुख सीवँ सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥

जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित बृष्टि सरद रितु स्वाति॥

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥
पितु समीप तब जाएहु भैआ। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ॥

आनन्दोल्लसित होकर एक साँसमें कितने काम कर लेती हैं और कितनी बातें कह जाती हैं तथा इन सबके अनुरूप मधुर उत्तर सुननेके लिये अपने लाड़ले लालका मुँह जोहने लगती हैं; परंतु सुनती क्या हैं—

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँदु अंब अनुग्रह तोरें॥

बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ मनु जनि करसि मलान॥

यद्यपि श्रीरामजी इन वचनोंको बड़ी विनम्रता, मधुरता तथा कुशलताके साथ कहते हैं, तथापि—

सर सम लगे मातु उर करके॥

और—

सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास परें पावस पानी॥
कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥
नयन सजल तन थर थर काँपी। माजहि खाइ मीन जनु मापी॥

ऐसी आन्तरिक व्यथा माताको होती है, फिर भी धैर्य धारण करके वे पूछती हैं—

राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहिं अपराधा॥

पतिको सदा निर्दोष मानकर पुत्रका अपराध पूछती हैं। तब—

निरखि राम रुख सचिवसुत कारनु कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिं जाइ॥

इस ढलती अवस्थामें माता कौसल्याने एक पुत्र पाया है, सो भी कैसा—

चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहिं देखा॥
सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुख चंदु निहारी॥
सेवक सचिव सकल पुर बासी। जे हमरे अरि मित्र उदासी॥
सबहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही। प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही॥

—आदि, आदि।

ऐसे सुन्दर, गुणवान्, परम प्रिय पुत्रका विछोह—सो भी दस-पाँच दिनके लिये नहीं वरं चौदह वर्षकी लंबी अवधके लिये और उसपर भी अपने राजपुत्रका वनमें वास करते हुए—ऐसे हृदयविदारक संवादको सुनकर केवल माता ही अपनी व्यथाको जान सकती है, कह तो वह भी नहीं सकती। वे तो धैर्य और धर्मकी मूर्ति राममहतारी कौसल्याजी ही हैं, यथा—

बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी॥
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥

'दोउ सुत सम जानी'के सम्बन्धमें आगे चलकर विचार किया जायगा। यहाँ तो धैर्य और धर्मका आश्रय पाकर माता कौसल्याका विवेक जाग्रत् हो उठता है; अतः वे कहती हैं—

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

इस प्रकार अपना दुःख भूलकर पहले भरत, फिर भूपति और तत्पश्चात् प्रजापर आनेवाले प्रचण्ड क्लेशसे वे चिन्तित होने लगती हैं और—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

—को चरितार्थ करती हैं।

हाँ, तो—

तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

इस समय भरतजी ननिहालमें हैं, परंतु अयोध्या पहुँचनेके दिनसे चौदह वर्षकी अवधितक श्रीरामजीके वियोगमें भरतजीकी व्याकुलताको देख-देखकर माता कौसल्याके हृदयमें वेदना होती रही है। अभी तो भूपति अर्थात् अपने पतिकी ऐसे गाढ़े समयमें मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा करनेके उद्देश्यसे ही पतिपरायणा राम-महतारी अपने एकमात्र लाड़ले पुत्रके साथ जानेसे रुक जाती हैं औरं वे कह देती हैं—

जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू॥
× × ×
यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ॥

और तब—

दारुन दुसह दाहु उर ब्यापा। बरनि न जाहिं बिलाप कलापा॥

ऐसे घोर दुःखसे उनका हृदय दग्ध होने लगता है; फिर भी जब श्रीरामजी सीता और लक्ष्मणसहित अन्तिम बिदा माँगनेके लिये पिताजीके पास कैकेयीभवनमें आते हैं, तब 'सयानी' कौसल्याजी अपने पति (भूपति) दशरथजीकी दयनीय दशासे द्रवित होकर उनकी सार-सँभार करने और उन्हें ढाँढ़स बँधानेके लिये उनको अपने घर लिवा ले जाती हैं, यथा—

दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्या गृहँ गईं लवाई॥

और जब सुमन्त्रजी गङ्गापारतकका समाचार सुना देते हैं, तब—

कौसल्याँ नृपु दीख मलाना। रबिकुल रबि अँथयउ जियँ जाना॥
उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी॥
× × ×
जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥
प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु चितयउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि॥

माता कौसल्या जानती हैं—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥

और—

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

ऐसे ही समय नारीकी परीक्षा होती है, अतएव अपने दुःखको भूलकर माता दुखी पतिकी सेवामें संलग्न हो जाती हैं। ऐसी हैं विवेकमयी राम-महतारी।

(२) माता कौसल्याकी सहृदयताकी पराकाष्ठा तो उस समय देखनेमें आती है, जब मानवोंकी पीड़ासे तो क्या, वरं श्रीरामजीके घोड़ोंके दुःखसे व्यथित होकर वे कहती हैं—

राघौ! एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरौ बनहि सिधावौ॥ १॥
जे पय प्याइ, पोषि कर पंकज, बार बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाड़िले! ते अब निपट बिसारे॥ २॥
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे, मनहु कमल हिम मारे॥ ३॥
सुनहु पथिक! जो राम मिलहिं बन, कहियो मातु सँदेसो।
तुलसी मोहि और सबहिन तें इन्ह का बड़ो अँदेसो॥ ४॥

(३) माता कौसल्याके चरित्रकी महत्ताकी ओर

ध्यान आकर्षित करनेवाली एक और विशेष महत्त्वपूर्ण बात है। दशरथजीसे लेकर जिन्होंने भी चौदह वर्षके लिये राम-वनवास-का समाचार सुना, वे सब कैकेयीके लिये कटु शब्दोंका प्रयोग किये बिना नहीं रह सके। यहाँतक कि सुमित्राजी भी—

समुझि सुमित्राँ राम सिय रूपु सुसीलु सुभाउ।
नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ॥

और इन सबसे अधिक कठिन तथा हृदयको दग्ध करनेवाली अवर्णनीय व्यथासे माता कौसल्या संतप्त हो रही हैं। ऐसी दशामें अपने एकमात्र सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर सुकुमारको बिना किसी अपराधके चौदह वर्षकी लंबी अवधिके लिये जंगलमें भेजनेवाली कैकेयीके प्रति यदि राम-महतारीके मुखसे एक-दो कटु शब्द निकल भी पड़ते तो व्यावहारिक दृष्टिसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। परंतु कटु शब्दका कहना तो दूर रहा, उनके मनमें किसी प्रकारकी कुत्सित भावनातक नहीं आती। उनका हृदय तो सरलतासे सराबोर है, अतः वे कहती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

यहाँ 'मातु' कैकेयीके लिये कहा गया है।

और तो क्या, ननिहालसे लौटनेपर जब कौसल्या माताके पास भरतजी आते हैं, तब वे कहते हैं—

कैकइ कत जनमी जग माझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा॥
कुल कलंकु जेहिं जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रिय जन द्रोही॥

कैकेयीका ठेठ नाम लेते हैं, माता नहीं कहते। परंतु यहाँ भी माता कौसल्या उनकी हाँ-में-हाँ नहीं मिलातीं, वरं कहती हैं—

जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी॥
काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥

—आदि, आदि।

ऐसी है माता कौसल्याके हृदयकी विशालता, पवित्रता, सरलता, सरसता, सुशीलता, महत्ता और इन सबके मूलमें है उनका अलौकिक विवेक, जिसे उन्होंने पूर्व जन्ममें भगवान्‌से माँगकर प्राप्त किया है। विवेकयुक्त ऐसी भक्ति ही सर्वाङ्गसुन्दर और श्रेयस् होती है, जिसके लिये भगवान्‌के निज भक्त सदा-सर्वदा लालायित रहते हैं और उसे पानेके लिये अपने भगवान्‌से अहर्निश याचना करते रहते हैं।

माता कौसल्याका भरतपर स्नेह

गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानसमें राजा दशरथजीका रघुकुल एक आदर्श परिवारके रूपमें देखनेको मिलता है, जिसमें तीनों रानियाँ एक दूसरेके पुत्रोंको अपने पुत्रसे भी अधिक प्यार करती पायी जाती हैं। अतएव श्रीरामजीपर कैकेयीके प्यारकी चर्चा पहले करना इसलिये आवश्यक है कि भरतजीपर माता कौसल्या कितना अधिक स्नेह रखती हैं—इसपर सुगमतासे विचार किया जा सके।

श्रीरामजीको युवराजपद देनेका समाचार कैकेयीको जब मन्थरा दासी सुनाती है, उस समय शुद्धहृदया कैकेयीजी कहती हैं—

× × ×

राम तिलक जौं साँचेहुँ काली। देउँ मागु मन भावत आली॥
कौसल्या सम सब महतारी। रामहि सहज सुभायँ पिआरी॥
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥

× × ×

प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें॥

कैकेयीजी श्रीरामजीको बहुत प्यार करती रही हैं तथा सबसे ऐसा कहती भी रही हैं, जैसा कि कोपभवनमें वरदानके पश्चात् दशरथजी कहते हैं—

तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयउ संदेहू॥

इसी प्रकार जब विप्रवधू, कुलमान्य जठेरी आदि कैकेयीको समझाने आती हैं, तब वे कहती हैं—

भरतु न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यहु सबु जगु जाना॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहिं अपराध आजु बनु देहू॥

श्रीरामजीपर जितना स्नेह कैकेयीका है, उससे कहीं अधिक माता कौसल्याजीका भरतजीपर है। अन्तर केवल इतना ही है कि कैकेयी सबसे कह देती हैं, परंतु कहना तो दूर रहा, माता कौसल्या कम-अधिककी भावनातक अपने मनमें नहीं लातीं। वे तो जैसा ऊपर कहा गया है 'रामु भरतु दोउ सुत सम जानी' की भावना रखती हैं। इसके बादसे भरतजीपर उनका स्नेह किस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, संक्षेपमें यही देखते चलना है।

(१) स्वर्गवासी पिताकी दाहक्रिया, दशगात्र आदि करनेके पश्चात् गुरु वशिष्ठजी राजसभामें भरतजीसे कहते हैं—

रायँ रजायसु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥

× × ×

करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥

× × ×

करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥

× × ×

सौंपेहु राजु राम के आएँ। सेवा करेहु सनेह सुहाएँ॥

अब कौसल्या माता सोचती हैं कि राजकाजमें व्यस्त हो जानेपर पिताकी मृत्युका, बड़े भाईके विछोहका और स्वयंकी आत्मग्लानिका दुःख भरतके मनसे शनैः-शनैः दूर होता जायगा और सबसे बढ़कर पूरी होगी कैकेयीके मनकी साध। अतएव गुरुजीकी आज्ञाका समर्थन वे बड़े सुन्दर ढंगसे करती हैं। यथा—

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥

× × ×

रुखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥

पहले शब्द 'पूत' के सम्बोधनमें कितना लाड़-प्यार और दुलार भरा है। फिर 'मातु बलि जाई' अर्थात् तुम मेरे पुत्र और मैं तुम्हारी माता बलैया लेती हूँ। अस्तु, अन्य सबको तो भरतजी खासा खरा उत्तर दे देते हैं, परंतु अपने ऊपर माताके इस प्रेमकी स्वीकारोक्तिमें वे कहते हैं—

राम मातु सुठि सरल चित मोपर प्रेमु बिसेषि।
कहइ सुभायँ सनेह बस मोरि दीनता देखि॥

वैसे तो वे सरलहृदया हैं, स्वभावतः स्नेह करनेवाली हैं; परंतु मुझपर उनका विशेष प्रेम है।

(२) इसके बाद चित्रकूटके लिये प्रस्थान करनेके पहले दिन—

बन सिय रामु समुझि मन माहीं। सानुज भरत पयादेहिं जाहीं॥

भरतजीपर विशेष प्रेम होनेके कारण सहृदया माता कौसल्यासे यह नहीं देखा जाता कि उनका भरत पैदल चले; अतः—

जाइ समीप राखि निज डोली। राम मातु मृदु बानी बोली॥
तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥

कौसल्या माताके ऐसे प्रेममें सने हुए वचनोंको भरतजी कैसे टाल सकते हैं। अतएव—

सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई॥

परंतु गङ्गाजी पार करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने पैदल यात्रा की है, इस विचारसे भरतजी फिर ऐसा प्रबन्ध कर लेते हैं कि उनके पैदल चलनेको माता देख ही नहीं पातीं और तब वे कुछ कह भी नहीं सकतीं। इस प्रकार एक ओर दुखी माताको अपने कारण और भी दुखी बनानेसे और दूसरी ओर माताकी आज्ञाकी अवहेलना करनेसे वे अपना बचाव कर लेते हैं।

(३) अब सारा समाज चित्रकूट पहुँच जाता है, मेल-मिलाप होता है, बैठकें होती हैं और अपने-अपने मनकी बातें कही जाती हैं। फिर जब जनकजीका आगमन होता है और उनकी धर्मपत्नी सुनयना रानी स्यापेके लिये कौसल्याजीके पास आती हैं, तब—

लखनु रामु सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥

× × ×

अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेहँ सयानप थोरा॥

× × ×

कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देबि मिथिलेसि।
को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि॥

रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥
रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं बन। जौं यह मत मानै महीप मन॥
तौ भल जतनु करब सुबिचारी। मोरें सोचु भरत कर भारी॥
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥

यहाँ प्रायः यह शङ्का उठायी जाती है कि 'माता कौसल्याने अभीतक भरतजीके प्रति जो लाड़-प्यार बताया है, वह केवल मौखिक अर्थात् दिखौआमात्र है। वास्तवमें भरतको श्रीरामजीके साथ वनको भेजकर वे कैकेयीसे बदला लेना चाहती हैं।' परंतु पूर्व प्रसङ्गपर विचार करनेसे यह शङ्का सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो जाती है। प्रसङ्ग है, जब भरतजी अपनी माता कैकेयीसे राम-वन-गमनका समाचार सुनकर कौसल्याजीके पास आते हैं और कहते हैं—

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता॥

जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूत घन घोर।
तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर॥

× × ×

लोभी लंपट लोलुप चारा। जे ताकहिं परधनु परदारा॥
पावौं मैं तिन्ह क गति घोरा। जौं जननी यहु संमत मोरा॥

× × ×

जे न भजहिं हरि नर तनु पाई। जिन्हहि न हरि हर सुजसु सोहाई॥
तजि श्रुति पंथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ। जननी जौं यहु जानौं भेऊ॥

तब—

मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभायँ।
कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन कायँ॥

मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥

और—

अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

यह 'थन पय स्रवहिं' क्या कभी ऊपरी या दिखौआ प्यारके कारण हो सकता है? यह तो भरतजीके प्रति आन्तरिक स्नेहके कारणसे ही हो रहा है। राम-मातुका ऐसा सरल स्वभाव ही है। यथा—

देखि सुभाउ कहत सबु कोई। राम मातु अस काहे न होई॥

माता कौसल्याके सरल स्वभावकी एक विशेषता यह भी है कि यौवराज्याभिषेकके दिन जब श्रीरामजी उनके पास आते हैं, तब इसी प्रकार—

बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥
गोद राखि पुनि हृदयँ लगाए। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाए॥

अन्तर इतना है कि जब श्रीरामजी आते हैं, तब कौसल्याजी राज्याभिषेकके आनन्दमें विभोर रहती हैं; परंतु जब भरतजी उनके पास आते हैं, तब एक ओर स्वर्गवासी पतिका शव दाह-संस्कारके लिये रखा रहता है और दूसरी ओर उनका एकमात्र प्यारा पुत्र चौदह वर्षके लिये वनको प्रस्थान कर चुका है। ऐसी दयनीय और दारुण दुःखकी दशामें भी कौसल्या माताके 'थन पय स्रवहिं'से उनका भरतजीपर अत्यधिक स्नेह सिद्ध होता है।

(४) प्रसङ्गवश इतना और कहे बिना नहीं रहा जाता कि श्रीरामजीके वन-गमनके समय माता कौसल्याको कहना पड़ा है—

जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू॥

उस समय पति-सेवाको परम धर्म मानकर वे श्रीरामजीके साथ वनको नहीं जा सकीं; अतः चित्रकूटमें सब माताओंको विदा करते समय यदि वे साथ चलनेको कहतीं तो उनके इस आग्रहको श्रीरामजी एकाएक टाल नहीं सकते। परंतु अब उन्हें 'मोरें सोचु भरत कर भारी' जो हो रहा है—ऐसे भरत, जो अपनी माता कैकेयीसे सदाके लिये विमुख हो गये हैं! यथा—

कैकेई जौलौं जियति रही।
तौलौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही॥ १॥
मानी राम अधिक जननी तें, जननिहु गँस न गही।

—आदि
(गीतावली)

और—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥

अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥

एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥

ऐसे संतप्त भरतजीकी अयोध्या लौटनेपर क्या दशा होगी और किसकी छत्र-छायामें वे इस चौदह वर्षकी विषादपूर्ण लंबी अवधिको बिता सकेंगे? अतएव माता कौसल्या अब श्रीरामजीके साथ वनको जानेका विचारतक अपने मनमें नहीं लातीं और लक्ष्मणके साथ श्रीरामजी और सुकुमार पुत्र-वधूको जंगलमें छोड़कर तथा उनके साथ रहनेके अपने सुखका परित्याग करके वे अपने प्यारे भरतकी सार-सँभार, देख-रेख करने और उन्हें धैर्य बँधाते रहनेके लिये चुपचाप सबके साथ अयोध्याको लौट पड़ती हैं।

तदनन्तर अवधि पूरी होते ही श्रीरामजी अयोध्या आते हैं, उनका राज्याभिषेक होता है और तब—

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कौसला॥

—ऐसे अद्वितीय राजा श्रीरामजी अपनी माता कौसल्याजीसे भी अधिक कैकेयीजीको मानते हैं, जैसा कि ऊपर लिखा गया है—'मानी राम अधिक जननी तें'। यह श्रीरामजीकी उदारता तो है ही, परंतु इससे बढ़कर उदारता है माता कौसल्याकी—'जननिहु गँस न गही।' वे कैकेयीसे मनमुटाव तो रखतीं ही नहीं, अपितु इस बातका विचारतक मनमें नहीं लातीं कि उनके एकमात्र निरपराध पुत्रको चौदह वर्षतक जंगल-जंगल फिरानेवाली कैकेयीको उनका वही पुत्र उनसे भी अधिक मान देता है। ऐसी हैं विशालहृदया राम-महतारी।

ऐसी त्यागमूर्ति, स्नेहमयी, उदार, सयानी, ज्ञान-

विज्ञानमयी, सरलहृदया, विवेकशील माताके सम्बन्धमें जो कुछ भी लिखा जाय, वह थोड़ा है। उनके परम पुनीत चरित्रमें रंचमात्रकी त्रुटिका आभासतक नहीं मिलता। परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजीके ऐसे महान् गौरवमय मातृ-पदपर प्रतिष्ठित होनेका सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ है और इतने बड़े पदका सर्वरूपेण निर्वाह इतने उत्तम ढंगसे उनके द्वारा सम्पन्न हुआ है, जितना कदाचित् ही अन्यत्र कहीं देखनेको मिले। उनके विवेकयुक्त चरित्रबलके वशीभूत होकर ही भगवान् श्रीरामजीने उनके आँचलके नीचे अवतरित होकर भक्तोंको सुख देनेवाली विचित्र लीलाएँ की हैं और माताने अपने विस्तृत आँचलके नीचे केवल श्रीरामजीको ही नहीं, वरं भरत-सदृश अन्य पुत्रोंको भी वात्सल्यमय आश्रय दिया है, जो विश्वके इतिहासमें आदर्शरूप है। अपने सुत-सेवकोंको स्वाञ्चलके नीचे आश्रय देनेके लिये वे सदैव तत्पर रहती हैं। नित्य प्रातःकाल उठते ही श्रीरामजी सबसे पहले उनके चरणोंमें माथा नवाते रहे हैं। भक्तजन उनका स्मरण करके और उनके पादपद्मोंमें नत-मस्तक होकर शान्ति और स्वर्ग-सुख पाते हैं।

निराशामें आशा

(लेखक—श्रीडब्ल्यू० डग्लस हार्टले)

अपने व्यवसायके पथपर पहले-ही-पहले तरुण मूर्तिकारके रूपमें जिस प्रतिमाका मैंने निर्माण किया, उसकी अनुभूति मेरे लिये जैसी चिरस्मरणीय बन गयी है, वैसी दूसरी नहीं होगी। तब मैंने सीखा था कि असफलता एवं सफलतामें कितना सूक्ष्म अन्तर हो सकता है।

मैं विश्वविद्यालयसे लौटा ही था और गरमीके दिनोंमें काम करनेके लिये दूसरे विश्वविद्यालयमें जानेके पूर्व केवल दस दिनका अवकाश मेरे हाथमें था। यह समय मटरगश्तीमें बिताया जा सकता था, परंतु मैंने अपने नगरके मूर्तिनिर्माणके योग्य किसी व्यक्तिको ढूँढ़कर उसके केवल ऊर्ध्वाङ्ग (मस्तक, छाती एवं कंधों) की प्रतिमा बनानेका निश्चय किया। कलाके जगत्‌में कोई भी इस बातको स्वीकार कर लेगा कि दस दिनोंमें इस प्रकारके कामको पूरा करनेका संकल्प घोर दुस्साहस है। इस दुस्साहसकी सीमा ठीक-ठीक कितनी थी, इसका पता मुझको दो महीने बाद लगा।

कई विशिष्ट नागरिकोंके सम्बन्धमें विचार करनेके बाद मैंने अपने कामके लिये श्रीक्यु. जी. नोवलिटको चुना। उस समय नोवलिट स्पार्कस इंडस्ट्रीजकी व्यवस्था-समितिके सभापति थे तथा बहुत दिनोंसे मेरी आँखोंपर चढ़े हुए थे। जब मैंने उनके साथियोंके सामने यह बात रखी कि श्रीनोवलिटके ऊर्ध्वाङ्गकी एक कांस्य-प्रतिमाका उपहार उनके प्रति सबके सम्मानका अच्छा प्रतीक होगा, तब वे सहमत हो गये। चार दिनों बाद श्रीनोवलिटने मूर्तिनिर्माणके लिये मेरे सामने दो घंटे बैठना स्वीकार किया।

जब हमलोगोंका मिलन हुआ, उस समय यह बताना कठिन था कि किसके मनमें अधिक बेचैनी थी। उन्हें इस बातका भय था कि जीवित व्यक्तियोंकी आकृति उतारनेके सम्बन्धमें प्रचलित प्रथाके अनुसार मैं उनके चेहरेपर आर्द्रलेप चढ़ाने जा रहा हूँ। इधर मेरे मनमें इस बातपर विस्मय-युक्त प्रश्न हो रहा था कि क्या मैं सात दिनोंमें इस कार्यको पूरा कर लूँगा। जब श्रीनोवलिटने यह जान लिया कि उन्हें किसी लेपके फेरमें नहीं पड़ना है, तब उनका चित्त सुस्थिर हुआ।

मूर्तिकारका पहला काम है मिट्टीके लौंदोंको ठीक सिरकी आकृतिमें जमाना। प्रथम दिन मेरा प्रारम्भ अच्छा रहा और दूसरी बार मिलनेपर मैंने थोड़ी-थोड़ी मिट्टी लेकर नाक, आँखें, मुँह तथा केश बनाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे मूर्तिमें मेरे आदर्शका कुछ-कुछ रूप उतरने लगा। किंतु मुखाकृतिका ढाँचा बन जानेके बाद काम धीरे-धीरे और कठिनाईसे आगे बढ़ा।

अपनी तीसरी बैठकमें मुझे यह अनुभव होने लगा कि समय बीता जा रहा है। तब मैंने अधिक परिश्रमसे काम किया। डेढ़ घंटेके बाद मुझे लगा कि पार्श्वसे तो मूर्ति प्रायः ठीक थी; किंतु सम्मुखसे सफल नहीं बनी थी। मैं बढ़ती हुई चिन्ताको लेकर घर लौटा।

सोमवारके दिन अन्तिम दो घंटेकी बैठकमें मैंने जी तोड़ परिश्रम किया। अब सामनेकी ओरसे भी आकृति सुचारुरूपसे मिलने लगी; किंतु मुखाकृतिमें बाह्य समानताके अतिरिक्त भी कुछ चाहिये। उसमें मूर्तिनिर्माणके लिये चुने

हुए व्यक्तिके व्यक्तित्वकी छाप होनी चाहिये। मुझे लगा कि मेरी मूर्तिमें 'जीवन'का अभाव था।

ढाँचेमें जान डालनेके लिये अगस्तमें घर लौट आनेपर श्रीनोबलिटने एक बार और इस कार्यके निमित्त अन्तिम समय देना स्वीकार किया। मैंने प्रतिमाको अपने घरके तलघरमें सुरक्षित रख दिया और पिताजीसे कह दिया कि वे कभी-कभी चिथड़ोंको भिगोते रहें, जिससे मिट्टी मुलायम बनी रहे।

दो महीने बाद मैं लौटा। जैसे ही मैंने घरमें प्रवेश किया मैं जान गया कि कुछ दालमें काला है।

पिताजीने कहा—'मूर्तिके साथ जाने क्या हो गया; तुम स्वयं ही आकर देख लो।'

व्यग्रचित्तसे मैं उनके साथ भूधरेमें गया। वहाँ मैंने देखा कि मेरी बनायी हुई श्रीनोबलिटकी प्रतिमा टूट गयी है और वह विद्रूप—तीन बेढंगे टुकड़ोंके रूपमें पड़ी हुई है। चेहरा चिपटा हो गया है, कानोंका पता नहीं है और सिरका दक्षिणभाग विलग हो गया है।

मैं समझ गया क्या बात हुई। मूर्त्तिको बहुत अधिक गीला कर दिया गया था और वह अपने ही भारसे टूट गयी थी। व्यवसायके क्षेत्रमें मेरा जो प्रथम निर्माण होता, वही अब गीली मिट्टीके ढेरके रूपमें मेरी असफलताका प्रतीक बना पड़ा था। मेरा क्रोध, मेरी निराशा और लज्जा सहने-योग्य नहीं रही। मैं एक बक्सपर बैठकर क्रन्दन करने लगा।

घरमें उस दिनकी संध्या आनन्दामोदसे सूनी रही। थोड़ी देर बाद माँ, जिस कमरेमें मैं उदास बैठा था, उसमें आयीं। उन्होंने पुस्तकोंकी आल्मारीके पास जाकर एक पोथी निकाली। 'तुमने कभी इसको पढ़ा है?' उन्होंने पूछा।

'मैं पुस्तकोंके सम्बन्धमें बात नहीं करना चाहता।' मैंने कहा। 'मैं बड़ी उलझनमें पड़ गया हूँ और अब क्या करना चाहिये, यही निश्चय करना है।'

माँने कहा, 'यह टामस कार्लाइल की लिखी हुई पुस्तक 'फ्रांसीसी क्रान्तिका इतिहास' है। हमारी भाषाके महान् ग्रन्थोंमेंसे यह शायद एक है।' यों कहते हुए उन्होंने मेरी ओर एक विचारपूर्ण दृष्टि डाली।

'उससे मुझे क्या लेना-देना है।' मैंने कहा।

'सम्भव है कुछ भी नहीं और सम्भव है बहुत कुछ। कार्लाइलने प्रथम खण्ड समाप्त करनेके बाद ही अपने मित्र जॉन स्टुअर्ट मिलसे उसे पढ़ जानेको कहा। मिलने पढ़कर उसे एक अन्य मित्रको दे दिया। पाण्डुलिपि जब कि मित्रके घरमें ही पड़ी थी, एक दासीने उसे रद्दी कागज समझकर आगमें झोंक दिया। महीनों, शायद वर्षोंका परिश्रम राख बन गया। और कार्लाइलने एक भी नोट नहीं बना रखा था।'

'कार्लाइलने क्या किया?' मैंने पूछा—

'वह केवल एक ही काम कर सकता था—उसे फिरसे लिखे। पहले जितना समय लगा था, दुबारा उसने उससे कम ही समयमें उसे समाप्त कर डाला।'

मैंने पूछा 'बिना किसी नोटके वे कैसे ऐसा कर सके?'

'पुस्तक उनके मस्तिष्कमें तब भी थी। उन्हें उसको केवल कागजपर उतारना था।' माँने यह कहकर पोथीको अपनी जगहपर वापस रख दिया और वे रसोईघरमें लौट गयीं।

कुछ ही क्षणों बाद भूधरेमें मैं अपने कामपर श्रमपूर्वक जुटा हुआ था। पुरानी मूर्तिके टुकड़ोंको मसलकर मैंने उसका अनपेक्षित जलीयांश निकाल दिया और पुनर्निर्माण-का कार्यारम्भ किया। धीरे-धीरे मूर्ति प्रकट होने लगी। काम करते समय ऐसा लगा, मानो मेरे हाथोंको याद हो कि पहले उन्होंने क्या किया था। पहली बार मैंने जो भूलें की थीं, उनका इस बार निराकरण हो गया।

दूसरे दिन तड़के ही मैं फिर जुट गया। देरतक रात बीत जानेपर मुझे ऐसा लगने लगा कि दो महीने पूर्व प्रतिमा जिस दशामें थी, वह फिर उसी दशामें आ गयी।

कुछ दिनों बाद श्रीनोबलिट और मैं अन्तिम बार बैठे। जब मैंने मूर्तिको उघाड़ा तो उन्होंने चेहरेको ध्यानसे देखा।

'आपने इसे कुछ बदल दिया है, क्यों है न?' उन्होंने पूछा।

'जी हाँ, बदला तो है।'

'मुझको पहलेसे यह अच्छा लगता है। इसमें मुझे अधिक जीवन, अधिक भावव्यञ्जना दीख रही है। मेरी समझमें नहीं आता, इसमें अब और अधिक सुधार आप क्या कर पायेंगे।'

विश्वास नहीं होता था; किंतु सचमुच यह दूसरी अनुकृति पहलीसे उत्तम थी। ऊर्ध्वाङ्ग-प्रतिमा काँसेमें ढाली गयी

तथा फैक्ट्रीके स्वागत-कक्षकी एक ताखमें विराजित कर दी गयी।

इस ऊर्ध्वाङ्ग प्रतिमाको मैं कभी नहीं भूलूँगा। जब मैंने इसे आरम्भ किया, मैं एक बच्चा था। जब मैंने इसे समाप्त किया, तब मैं प्रौढ़ मनुष्य बन चुका था। अपनी माँके उपदेशगर्भित व्यवहारसे मैंने वह शिक्षा प्राप्त की, जो प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त करनी चाहिये। वह यह है कि आवश्यक नहीं कि क्षति सुधारकी सीमासे बाहर हो। दृढ़ संकल्पके सहारे उसको मनुष्य सफलताके सोपानमें परिवर्तित कर सकता है।

(अनु०—माधवशरण)

गुणानुरागी बनिये

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि जगत् उसका आदर करे, उसके गुणोंका लोग बखान करें, सर्वत्र उसका नाम हो; पर यह आशा तभी सफल हो सकती है कि जब वह उसके लिये योग्यता प्राप्त कर ले। मनुष्य यह भी जानता है कि आदर गुणोंका होता है, व्यक्तिका नहीं। एक ही व्यक्ति, जब उसमें गुणोंका आधिक्य होता है, विश्वद्वारा आदरणीय और यशोभाजन हो जाता है। उसी व्यक्तिमें जब दुर्गुण पनपकर गुणोंके ऊपर छा जाते हैं, तब उसकी चिर-संचित कीर्ति क्षणभरमें ही विलीन हो जाती है। हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति जाति और कुलसे हीन है, कुरूप है, आयुमें छोटा है, साधन और सम्पत्तिसे वञ्चित है, फिर भी यदि कोई गुण उल्लेखनीय रूपमें उसमें पाया जाता है तो उसकी बहुत-सी कमियाँ गौण हो जाती हैं और गुणोंकी मुख्यतासे वह आदरणीय बन जाता है। इसके विपरीत कोई उम्रमें बड़ा, जाति और कुलसम्पन्न, साधन-सम्पत्ति और बुद्धि—इन सब बातोंमें बढ़ा-चढ़ा हो, फिर भी उसमें दुर्गुणोंकी अधिकता हो, तो वह निन्दाका पात्र हुए बिना नहीं रह सकता। इसीलिये महाकवि भवभूतिने कहा है—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।

जिसमें अनेक सद्गुणोंका निवास हो, उसका आदर तो होना स्वाभाविक ही है; पर उत्कृष्ट मात्रामें यदि एक भी गुण किसीमें विकसित हो जाय तो वह व्यक्ति सबकी नजरोंमें चमक उठता है। बस, उस एक ही विशेष गुणसे लोग उसके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं और उसके छोटे-मोटे अन्य दोष दब-से जाते हैं। इसी तरह कोई दुर्गुण मनुष्यमें बढ़ जाता है तो उसके छोटे-मोटे अनेक गुण ढँक-से जाते हैं। अतएव मानवके लिये हर समय अपनी ओर देखते रहकर दोष न बढ़ने पायें और गुण अधिकाधिक पनपते रहें, इसका लक्ष्य रखना परमावश्यक है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, गुणी बनना तो हम सभी चाहते हैं, पर संस्कार और सम्पर्क-दोषसे हममें जो दुर्गुण घुस जाते हैं, उन्हें हम दूर नहीं कर पाते। अपनी गुणोंकी योग्यताका विकास किये बिना उसके द्वारा होनेवाले फलको प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः हमारे मनीषियोंने स्वानुभवसे गुणी बननेके लिये एक बहुत सरल, सीधा और सच्चा रास्ता बतलाया है, जिसके द्वारा प्रत्येक मानव सहज ही गुणी बन सकता है और उसके दोष क्रमशः कम एवं दूर हो सकते हैं। वह उपाय है—मनुष्य गुणोंके प्रति अनुराग रखे, गुणीजनोंके प्रति आदर, सत्कार और भक्ति रखे। जैसे-जैसे मनुष्यमें गुणानुराग बढ़ेगा, वैसे-वैसे उसका खिंचाव गुणोंके प्रति बढ़कर वह गुणी बनता चला जायगा। वह क्रिया इतनी स्वाभाविक है कि इसमें विचार करने और श्रम करनेकी भी आवश्यकता नहीं होती। गुणीसे प्रेम और गुणोंके प्रति आकर्षण—यही पर्याप्त है। अवगुणग्राही वृत्तिको हटाकर गुण-ग्रहणकी वृत्तिको अपनाना तथा बढ़ाना चाहिये। सत्सङ्गका माहात्म्य और महापुरुषोंके नामस्मरण तथा गुण-कीर्तनका जो बड़ा भारी फल हमारे शास्त्रोंमें वर्णित है, उसका एकमात्र यही कारण है कि जिन व्यक्तियोंके साथ हमारा सम्पर्क होता है, उनके गुण-दोषोंका प्रभाव हमारेपर भी पड़े बिना नहीं रहता। महापुरुषोंमें गुणोंकी प्रधानता होती है; अतः मनुष्य उनके गुणोंको स्मरणकर या उनके प्रति आकृष्ट होकर यही चाहता है कि वह भी वैसा ही गुणी बन जाय। मनुष्यकी जैसी इच्छा होती है, उसीके अनुरूप उसकी प्रवृत्ति होती है। जिस चीजकी इच्छा जितनी बलवती होगी, उसकी पूर्णता उतनी ही शीघ्रतासे हो सकेगी। इसीलिये कहा गया है—'जैसा चाहो बन जाओ।' शास्त्रीय दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि भृङ्गी कीटको पकड़कर अपने बनाये हुए घरमें रख छोड़ती है। उसका गुंजारव सुनकर कीटकी यह इच्छा होती है कि मैं भी ऐसी ही भृङ्गी बन जाऊँ। इस

प्रबल इच्छासे ही वह कीट भृङ्गी बन जाता है। श्रीमान् चिदानन्दजीने आत्मा परमात्मा कैसे बन जाता है, इसका दृष्टान्तसहित उपाय बतलाते हुए कहा है—

आतम परमातम पद पावै, जो परमातम सूँ लय लावे।
सुनके शब्द कीट भृंगीका निज तन-मनकी सुधि बिसरावे।
देखहु प्रगट ध्यानकी महिमा, सोई कीट भृंगी हो जावे॥

वास्तवमें देखा जाय तो परमात्मपुरुष तो सिद्ध और बुद्ध हो चुके हैं, वे किसीका भला-बुरा नहीं करते; पर उनके निमित्तसे मनुष्यमें अच्छी भावनाओंका उदय होता है, गुणोंके प्रति आकर्षण बढ़ता है; अपने दोषों, दुर्गुणों और कमियोंका उसे भान होता है। गुणोंका आकर्षण जितना बढ़ेगा, दोषोंका सम्पर्क स्वयं उतना ही घट जायगा। गुणी व्यक्तिके स्मरण, भजन, कीर्तन और ध्यानसे गुणोंके प्रति आकर्षण बहुत सहजमें हो जाता है और वही आकर्षण बढ़ते-बढ़ते मनुष्यको तदनुरूप बना देता है। एक जैन कविने कहा है—

गुणी पुरुषने ध्यावताँ, गुण आवै निज अंगा।

प्राणिमात्र गुणों और दोषोंके पुञ्ज हैं। किसीमें गुणोंकी अधिकता है तो किसीमें दोषोंकी। दृष्टिकी भिन्नतासे कभी-कभी किसीके गुण दोषरूप दीखने लगते हैं और दोष गुण-रूप। जिसकी दोष-दर्शनकी वृत्ति होती है, वह बड़े-बड़े महापुरुषोंमें भी कोई-न-कोई दोष ढूँढ़ निकालता है, जब कि गुण-दृष्टिवाला व्यक्ति भयंकर पापीमेंसे भी कोई-न-कोई गुण पा लेता है। थोड़े-बहुत गुण और दोष सभीमें होते हैं। देखनेवाला स्वयं जैसा होगा, या जिस गुण या दोषको महत्त्व देगा, उसको दूसरेमें वही दिखायी देगा। हमारेमें दोषोंकी इतनी प्रचुरता एवं गुणोंकी इतनी कमी क्यों है—इसपर जब हम गम्भीर विचार करते हैं, तब पता चलता है कि हमारी दृष्टि दूसरोंके अवगुणोंको देखनेमें लगी रहती है। दोषोंकी ओर बहुत बार और विशेषरूपसे ध्यान जानेके कारण ही हमारेमें दोषोंकी प्रबलता और अधिकता हो जाती है। यदि हम अपनी दृष्टिको गुण-ग्रहणमें लगा दें और जहाँ कहीं भी, जिस किसीमें छोटा-मोटा जो भी गुण देखें, उसे ग्रहण करनेका लक्ष्य रखें अर्थात् गुणग्राही बनें तो गुणवान् बननेमें देर नहीं लगेगी। केवल अपनी दृष्टि या वृत्तिमें ही परिवर्तन करनेकी देरी है, दोष-दृष्टिकी जगह गुण-दृष्टिको स्थान और महत्त्व देना है। फिर हमारा काम सरलतासे और शीघ्र हो जायगा। गुणग्राही व्यक्तिकी दृष्टि बहुत उदार और विशाल हो जाती है। उसमें साम्प्रदायिक, अनुदार तथा संकुचित भावना नहीं होती; क्योंकि गुण प्रत्येक मनुष्यमें पाये जाते हैं। वे किसी देश, जाति, सम्प्रदायकी ही बपौती नहीं। अतः गुणग्राही व्यक्ति जहाँ भी थोड़ा-बहुत गुण दिखायी देगा, उसके प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। संकुचित दृष्टिवाला अपने देश, जाति, सम्प्रदायवालोंके तो गुणोंका बखान करेगा; पर उस सीमाके बाहरके व्यक्तियोंके गुणोंकी ओर उसका ध्यान नहीं जायगा और लक्ष्यमें आ जानेपर भी वह उनके गुणोंकी स्तुति करनेमें हिचकिचायेगा। जैन परिभाषामें संकुचित वृत्तिको दृष्टि-रागकी संज्ञा दी गयी है। जब व्यक्ति संकुचितताका आश्रय लेता है, तब उसका सम्प्रदाय या व्यक्तिविशेषके प्रति इतना अधिक मोह हो जाता है कि उसे उसके दोष भी गुणरूप दिखायी देने लगते हैं और दूसरोंके गुण भी दोषरूप। अतएव हमें यह सावधानी रखना अति आवश्यक है कि हमारी गुण-दृष्टि संकुचित और अनुदार न हो। जहाँ कहीं भी गुण दिखायी दे, उसका बिना हिचकिचाहटके स्तवन किया जाय और उसे अपनानेका प्रयत्न किया जाय।

किसी व्यक्तिसे लाभ उठानेके लिये हमें गुणग्राही बनना आवश्यक है, उसी प्रकार सद्ग्रन्थके स्वाध्यायमें भी गुण-ग्रहणकी दृष्टि हो, तभी उस ग्रन्थसे लाभ उठाया जा सकता है। वर्तमानमें हमारेमें इतनी संकुचित वृत्ति आ गयी है कि जिस प्रकार हम अपनेसे भिन्न सम्प्रदायके गुणी व्यक्तियोंके पास जाने-आने और उनसे लाभ उठानेमें हिचकिचाते हैं, वैसे ही दूसरोंके धर्मग्रन्थोंको पढ़कर उनकी अच्छी-अच्छी बातोंको अपनानेके लिये भी हमारा दिल तैयार नहीं होता। अन्यथा हम एक दूसरेके बहुत नजदीक आ सकते हैं; हमारे अलगाव, भिन्नता, वैमनस्य और विरोध कम हो सकते हैं। गुण-ग्रहणकी दृष्टिके अभावमें ही ऐसा नहीं हो पाता। अच्छी बातें सभी धार्मिक ग्रन्थोंमें पायी जाती हैं; पर दोष-दृष्टिवाला व्यक्ति उन ग्रन्थोंको पढ़ते समय उनकी ओरसे आँख मूँद लेता है और उनमेंसे कोई-न-कोई भूल या दोष पकड़कर उसको बाहर प्रचारित करनेमें लग जाता है। खण्डन-मण्डनसे वैर-विरोधकी वृद्धि होती है, उससे तात्त्विक निर्णय नहीं हो पाता। दूसरेका दोष बतलाकर उसके प्रति लोगोंमें अरुचि पैदा करना और स्वमतका प्रचार करना यही उसका उद्देश्य होता है। संक्षेपमें दोष-दृष्टिवाले व्यक्ति हजार गुणोंकी विद्यमानतामें भी कोई-न-कोई दोष ढूँढ़ निकालते हैं और गुण ग्रहण करनेवाला व्यक्ति

दोषोंकी उपेक्षा करके जो भी उसे अच्छाई मिलती है, उसे अपनानेका प्रयत्न करता है।

ठंडे दिलसे विचार किया जाय तो पराये दोष-दर्शनसे अपनेको कुछ भी लाभ नहीं होता, गुणग्रहणसे लाभ-ही-लाभ है। तब जिससे अपनेको कुछ भी लाभ नहीं, उसे क्यों अपनाया जाय? एक जैनाचार्यके द्वारा रचित 'गुणानुराग-कुलक' इस सम्बन्धमें अच्छा प्रकाश डालता है। अतः उसके कुछ पद्योंका भावानुवाद यहाँ दिया जा रहा है।

'जिस पुरुषके हृदयमें उत्तम गुणानुराग निवास करता है, उसे परमात्मपदतककी ऋद्धियाँ भी दुर्लभ नहीं हैं, अपितु सुलभ हैं। जिसके हृदयमें सदा सद्गुणसम्बन्धी स्वाभाविक प्रेम जाग्रत् है, उन्हें धन्य, कृतपुण्य समझना चाहिये।

'अधिक पढ़नेसे, तपस्या करनेसे तथा दान करनेसे क्या प्रयोजन है? केवल सर्वसुखोंके स्थानरूप एक गुणानुरागका ही तू आदर कर।

'कदाचित् तू अधिक तप करेगा, अधिक शास्त्रोंका अध्ययन करेगा और विविध कष्ट सहन करेगा; परंतु यदि गुणानुराग धारण न करेगा, दूसरेके सद्गुण देखकर प्रसन्न न होगा, तो तेरी सारी करनीको व्यर्थ समझना।

'दूसरोंके गुणोंका उत्कर्ष सुनकर यदि तू द्वेष रखेगा तो जगत्में तू पराभव प्राप्त करेगा।

'ईर्ष्याके जोरसे अंधा होकर जो तू गुणवान् जनोंके अवर्णवाद किसी प्रकारसे बोलेगा तो तुझे संसार-महाटवीमें भटकना पड़ेगा (और वहाँ अनेक प्रकारसे दुःखोंका कठोर अनुभव करना पड़ेगा। इसलिये प्रथमसे ही दूसरेके अवर्णवाद बोलनेसे पीछे हट जा)।

'इस वर्तमान युगमें जीव जिस गुणका या दोषका अभ्यास करता है, उस गुण-दोषके अभ्यासद्वारा आगे चलकर वह उसीको प्राप्त करता है।

'जो स्वयं सैकड़ों गुणोंसे भरा होनेपर भी द्वेषद्वारा दूसरोंके दोष देखता है, वह पण्डितपुरुषोंकी दृष्टिमें पलाल (भूसी) के ढेरके समान असार (हलका) दिखायी देने लगता है।

'जो दुष्ट आशयद्वारा दूसरोंके दोष ग्रहण करता है, वह अपनी आत्माको निरर्थक पाप-बन्धनसे बाँधता है (जिससे भवान्तरमें स्वयं ही दुखी होता है।)

'अतएव जिससे कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) की अग्नि पैदा न हो, वही कार्य करना चाहिये। परनिन्दा, ईर्ष्या-दोष, आदि अकार्य अवश्य ही त्याज्य हैं।

'यदि तू सचमुच त्रिभुवनमें गुण-गौरव प्राप्त करना चाहता है तो दूसरोंके दोष-ग्रहण करनेकी दृष्टि अथवा परनिन्दा करनेकी बुरी टेवको सम्पूर्ण प्रयत्नद्वारा छोड़ दे। यही बड़प्पनका मार्ग है।

'जगत्में सबके प्रशंसनीय चार प्रकारके पुरुष होते हैं— १. सर्वोत्तम, २. उत्तमोत्तम, ३. उत्तम और ४. मध्यम।

'इसके उपरान्त घोर कर्मी और धर्मवासनारहित जो अधम और अधमाधम मनुष्य हों, उनकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये। निन्दा तो सर्वथा वर्जनीय ही है; क्योंकि उससे निन्दित व्यक्तिको या स्वयं निन्दकको कोई भी लाभ नहीं होता। इसके विपरीत करुणा-बुद्धिसे प्रेरित होकर हितशिक्षा देनेसे अपनेको भी लाभ होता है। और जिसे शिक्षा दी जाती है, वह भी समझ जाता है। इसलिये शास्त्रकार यही करनेको कहते हैं।

'उत्तम पुरुषोंके गुण जो तू बहुमानपूर्वक ग्रहण करेगा तो शीघ्र शिव-सुखको प्राप्त करेगा, यह निश्चय जानना; क्योंकि सद्गुणी होनेका यही सरल मार्ग है।

'आजकल संयममार्गमें शिथिलता धारण करनेवाले और संयमक्रियाकी उपेक्षा करनेवाले हीनाचारी बहुत हैं। सभाके समक्ष उनकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये, निन्दासे वे सुधर न सकेंगे; इसी प्रकार उनकी प्रशंसा करना पापोंको बल देना होगा।

'दुष्ट और हीनाचारी व्यक्तिपर करुणा लाकर, यदि उसे पसंद हो तो, हितबुद्धिसे उसे सच्चा मार्ग बताना चाहिये। फिर यदि वह रोष करे तो उसके दोष-दुर्गुण (सभाके समक्ष) प्रकाशित न करें।

'जो गुणरत्नोंसे अलंकृत पुरुषोंका शुद्ध एवं निष्कपट मनसे बहुमान करता है, वह उनके-जैसे गुणोंको प्राप्तकर सुखी होता है। सद्गुणोंके प्रति आकर्षण और गुणीजनोंका आदर करना ही गुणी बननेका अमोघ उपाय है।'

एक दूसरे कविने भी बहुत ही अच्छा कहा है—

गुणग्राही बनिये सदा, लागत कछु नहि मोल।
अवगुण जावे आपका, पामे सुख अनतोल॥
पामे सुख अनतोल, जगतमें लोग सराहै।
पर भव सुर अवतार, अन्तमें शिवपद पावै॥
कहता कवि बरजोर, ज्ञानकी बातें सुनिये।
लागत कुछ नहि मोल, गुणोंके ग्राहक बनिये॥

महापुरुषोंने कहा है कि दोष देखना हो तो अपने देखो, जिससे उनका भान हो और दूर करनेका प्रयत्न भी किया जा सके। दूसरोंके तो गुण ही देखिये। यदि किसीका कोई दोष सहज ही नजर आ जाय तो हित-बुद्धिसे एकान्तमें उसे समझाइये। निन्दा करनेसे उसके दोष कभी नहीं दूर होंगे; उल्टे उसका आपके प्रति दुर्भाव हो जायगा, जिससे आपके कहनेका प्रभाव उसपर नहीं पड़ेगा। वह आपसे वैरभाव धारण किये रहेगा। आपका छिद्रान्वेषण करके, जैसे आपने उसके दोषोंको प्रकट किया है, वैसे ही वह आपके दोषोंको विशेषरूपसे प्रचारित करनेका प्रयत्न करेगा। दूसरेके दोषोंसे हमारी कोई हानि नहीं होती, हमारी हानि तो अपने ही दोषोंसे होती है। सज्जन पुरुषोंका लक्षण यही माना गया है कि वे दूसरेके मेरुसदृश दुर्गुणोंको सरसोंके समान मानकर उपेक्षा कर देते हैं और अपने सरसो-सरीखे दोषको भी मेरु-सदृश मानते हुए उसे जल्दी-से-जल्दी दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। अन्तर्निरीक्षण करनेपर महापुरुषों-के हृदयसे भी ये ही वाक्य निकले हैं—

बुरा जो देखन मैं गया, बुरा न पाया कोय।
जो घट देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

सुभाषित-ग्रन्थोंमें भी गुणोंके महत्त्वके सम्बन्धमें कई अच्छे श्लोक मिलते हैं। यहाँ उनमेंसे कुछ श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं—

गुणैरेव महत्त्वं स्यान्नाङ्गेन वयसापि वा।
दलेषु केतकीनां हि लघीयस्सु सुगन्धता॥

अर्थात् मोटे शरीर या बड़ी उम्रसे ही मनुष्य महत्त्वको नहीं प्राप्त होता। महत्त्व तो गुणोंसे मिलता है। केतकीके पत्ते बहुत छोटे होते हैं, फिर भी सुगन्धके कारण दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उसी तरह जहाँ गुण होंगे, लोग खिंचे हुए चले आयँगे। उसके लिये ढिंढोरा पीटने या किसीको बुलानेकी आवश्यकता नहीं होगी। उसके गुणोंसे दूसरोंके हृदयमें आदर और श्रद्धा स्वयं जग उठेगी। नीच कुलमें जन्म लेकर भी जो गुणोंमें आगे बढ़ जाता है, वह अपने-आप प्रशंसाका पात्र बन जाता है। पञ्चतन्त्रमें कहा है—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद् दूर्वापि गोलोमतः
पङ्कात्तामरसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात्।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना॥

अर्थात् रेशम कृमियोंसे उत्पन्न होता है। स्वर्ण पत्थरसे, कीचड़मेंसे कमल, समुद्रमेंसे चन्द्र, लकड़ीमेंसे अग्नि, सर्पके फणमेंसे मणि तथा गायके पित्तसे गोरोचन उत्पन्न होता है। इनका उत्पत्तिस्थान अच्छा न होनेपर भी अपने गुणोंके कारण ये प्रसिद्धि और आदर पाते हैं।

गुणेषु क्रियतां यत्नः किमाटोपैः प्रयोजनम्।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः॥

अर्थात् गुण-ग्रहणमें ही यत्न करिये। बृहद् आडम्बरोंमें क्या धरा है? बिना दूधकी गायके गलेमें सुन्दर घण्टा बाँधने-पर उसको कोई नहीं खरीदता; क्योंकि उसका मूल्य तो दूधपर ही निर्भर है। इसी प्रकार बाहरी दिखावट, टीपटाप और वाचालतासे मनुष्य आदर नहीं पा सकता, यदि उसमें गुण न हों।

गुणैरुत्तुङ्गतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते॥

अर्थात् उच्चासनपर बैठनेसे ही मनुष्य गौरवका अधिकारी नहीं हो जाता। गौरव तो गुणोंसे ही मिलता है। कौवा यदि प्रासादके शिखरपर भी बैठ जाय तो वह गरुड़की शोभा नहीं प्राप्त कर सकता।

सर्वत्र निन्दासंत्यागो वर्णवादस्तु साधुषु।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं तद्वत् सम्पदि नम्रता॥
कस्यापि चाग्रतो नैव प्रकाश्यः स्वगुणः स्वयम्।
तुच्छत्वेन तुच्छोऽपि वाच्यः परगुणः पुनः॥

अर्थात् निन्दाका सर्वथा त्याग करें, सज्जनोंकी प्रशंसा करें, आपत्तिमें दीन न बनकर धैर्य रखें और सम्पत्तिमें नम्रता। किसीके सम्मुख अपने गुणोंका बखान स्वमुखसे न करें और दूसरेके छोटे-से-छोटे गुणको भी बड़ा मानकर अपनायें। यही गुणवान् बननेका सरल उपाय है। मानवकी न जाने क्या दुर्बलता है कि गुणीजनोंका आदर करने और गुण ग्रहण करनेकी वृत्ति रखनेके विपरीत वह गुणिजनोंसे ईर्ष्या और मात्सर्य रखने लगता है। इससे उसका जीवन बहुत-से दोषों-का भंडार बनता जाता है। हमारे प्राचीन विचारकोंने इसीलिये मैत्री, कारुण्य, प्रमोद और मध्यभाव रखनेपर विशेष जोर दिया है। अपनेसे अधिक गुणी, समृद्ध और सुखी व्यक्तिको देखकर हमारे हृदयमें हर्ष होना चाहिये, न कि ईर्ष्या और मात्सर्य। जो अपनेसे गुणहीन व्यक्ति हों, उनके प्रति

भी सहानुभूति और उन्हें ऊँचा उठानेके लिये कारुण्य-भाव रखना आवश्यक है। अधमाधम, व्यक्तिपर भी हम द्वेषभाव न लायें; मध्यस्थ, उदासीन एवं उपेक्षाभाव ही रखें। समान गुणीके साथ तो मैत्रीभाव होना ही चाहिये।

गुणदृष्टिवाले व्यक्तिको सर्वत्र गुण ही दिखायी देते हैं। युधिष्ठिरको गुणहीन व्यक्तिकी खोजके लिये कहा गया तो उसे सभी व्यक्तियोंमें कुछ विशेषता और गुण दिखायी पड़े। और दुर्योधनसे कहा गया तो अवगुणी दृष्टि होनेसे उसे कोई गुणी व्यक्ति मिला ही नहीं। 'जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि'। हम सदा गुण-ग्रहणकी रीति ही अपनायें।

शास्त्रोंमें वाराणसीका महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीबलरामजी शास्त्री एम्० ए०)

सरकारने बनारसका नाम 'वाराणसी'में परिवर्तित कर दिया। बनारस और वाराणसीका विवाद भी अब समाप्त हो गया।' हो सकता है—कुछ लोगोंने यह धारणा बना ली हो कि सरकारने बौद्ध-धर्मके प्रभावमें आकर ऐसा किया है। किंतु यह स्मरणीय विषय है—शास्त्रोंमें काशी और वाराणसीका समान महत्त्व प्रतिपादित है। शास्त्रोंमें काशी और वाराणसीका कुछ भी भेद नहीं है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें संक्षिप्तमें 'वाराणसी' के नाम और सीमाके महत्त्वको शास्त्रोंके आधारपर उपस्थित किया जा रहा है।

लिङ्गपुराणके एक श्लोकसे यह अवगत होता है कि भगवान् विश्वनाथने स्वयं कहा है—'वाराणसीपुरी सर्वदा मुझे प्यारी है और इस पुरीमें समस्त जीव-जन्तुओंको मोक्ष प्राप्त होता है।' उसी स्थलपर यह भी लिखा है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार और पुष्करकी अपेक्षा वाराणसीका महत्त्व अत्यन्त श्रेष्ठ है।

इदं गुह्यतमं क्षेत्रं सदा वाराणसी मम।
सर्वेषामेव जन्तूनां हेतुर्मोक्षस्य सर्वदा॥
नैमिषे च कुरुक्षेत्रे गङ्गाद्वारे च पुष्करे।
अन्येषां सेवनात् स्नानान्न मोक्षः प्राप्यते यतः॥

(लिङ्गपुराण)

पाठक पत्रोंमें प्रकाशित कई विद्वान् लेखकोंद्वारा वाराणसीकी सीमाकी व्याख्या पढ़ चुके होंगे। 'वरणा' और 'असी' के बीचके भागको 'वाराणसी' कहते हैं, परंतु वाराणसीकी सीमाका आध्यात्मिक स्वरूप भी आप जान लें।

वाराणसीका आध्यात्मिक स्वरूप

'वरणा' और 'असी' के संगमके बीचमें वाराणसीकी स्थिति मानते हुए काशीखण्डके पाँचवें अध्यायमें उल्लेख मिलता है कि ब्रह्माने वाराणसीकी महिमा देवताओंसे बतलाते हुए कहा—

स होवाचेति जाबालिरारुणेसि रिडामता।
वरणा पिङ्गला नाडी तदन्तस्त्वविमुक्तकम्॥
सा सुषुम्णा परा नाडी त्रयं वाराणसी त्वसौ।

(काशीखण्ड अ० ५)

उपर्युक्त वाक्यसे यह प्रमाणित होता है कि असी नदी इडानामक नाडी है, वरणा- नदी पिङ्गला नाडी है और दोनों नदियोंके बीचमें अविमुक्तक्षेत्र सुषुम्णा नाडी है। तीनोंको मिलाकर 'वाराणसी' क्षेत्र बनाया गया है। योगियोंको योग-सिद्धिके लिये तीनों नाडियोंके ज्ञानकी आवश्यकता पड़ती है। जैसे बिना इंगला (इडा), पिङ्गला और सुषुम्णाकी साधना किये योगसिद्धि नहीं मिलती, उसी प्रकार वरणा, असी और अविमुक्तक्षेत्रकी सीमाको संयुक्त किये बिना वाराणसी क्षेत्रकी सीमा नहीं बन सकती। शास्त्रकारोंका यह निश्चित मत है कि भगवान् शंकर वाराणसीपुरीमें समस्त जीवोंको मृत्युके समय तारक-मन्त्रका उपदेश देते हैं और उसी तारक-मन्त्रके प्रभावसे जीव वाराणसीमें मोक्ष प्राप्त करता है। वाराणसीमें उस तारकके प्रभावसे योग-साधना किये बिना भी जीव ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर योगीके समान मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

वाराणसीपुरी ऊसर भूमि है

शास्त्रोंमें यह भी प्रमाण मिलता है कि वाराणसीक्षेत्रमें किया हुआ पुण्य और पाप ऊसर भूमिमें बीज बोनेकी भाँति निरर्थक हो जाता है। जैसे ऊसर भूमिमें बीज बोनेसे बीज नहीं जमता, उसी प्रकार वाराणसीक्षेत्रके अन्तर्गत पाप और पुण्य नहीं लगता। इसका तात्पर्य यह है कि श्रुति-स्मृतिके अनुसार वर्णाश्रमधर्मका पालन करके सर्वदा सर्वप्रकारसे धर्मका आचरण करता हुआ जीव यदि वाराणसीपुरीमें शरीर छोड़ता है तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है और पापी जीव भी जब

वाराणसीमें शरीर छोड़ता है, तब वाराणसीक्षेत्र और तारक-मन्त्रके प्रभावके कारण उसे भी मोक्ष प्राप्त होता है। हाँ, धर्माचरण करनेवाले जीवोंका पाप गङ्गा-स्नान, देव-दर्शन, यज्ञ-दान आदिसे क्षीण होते रहकर मृत्युके समय वाराणसीके प्रभाव और तारक-मन्त्रके कारण सर्वतोभावेन क्षीण हो जाता है तथा जीवको मोक्ष प्राप्त हो जाता है। किंतु स्मरणीय बात यहाँ यह है कि वाराणसीमें अन्ततोगत्वा मोक्ष प्राप्त होता है। वाराणसी पाप और पुण्यके लिये ऊसर अवश्य है; किंतु इसका भाव यह नहीं कि वाराणसीमें रहकर कोई पापका आचरण करे। मृत्युका तो निश्चित स्थान जीव जानता ही नहीं कि वह कहाँ मरेगा, कब मरेगा। अतः वाराणसीपुरीमें रहकर पापका आचरण करनेकी बात तो मस्तिष्कमें आनी ही नहीं चाहिये।

'ऊषरः पुण्यपापानां धन्या वाराणसी पुरी।'
'इदं प्रिये क्षेत्रमिति प्रियं मे संसारबीजोषरमूषराणाम्॥'

पुण्य और पापका भोग तो वर्तमान शरीरद्वारा ही समाप्त होता है, यह सिद्धान्त भी काशीपुरीके निवासियोंके लिये ही चरितार्थ होता है। वाराणसीपुरीमें रहनेवाले जीव जब मरने लगते हैं, तब उनका मोक्ष हो ही जाता है। अतः उनके द्वारा पाप-पुण्यका उत्तम और निकृष्ट फल उसी शरीरको भोग लेना पड़ता है। यहाँपर दूसरा सिद्धान्त यह भी है कि वाराणसीपुरीमें पापका आचरण वज्रलेपकी भाँति अमिट हो जाता है। जिस जीवने काशीमें रहकर पापाचरण किया और उसकी मृत्यु अन्यत्र हुई तो उसके शरीरद्वारा किया पाप वज्रलेप बनकर जन्म-जन्मान्तरतक उसे कष्ट देता रहेगा—

वाराणस्यां कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।
(सनत्कुमारसं०)

वाराणसीके अधिपति भगवान् शंकरकी कृपासे वाराणसीमें शरीर छोड़नेवाले जीवोंके लिये जप, दान, व्रत आदिकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती; किंतु जिनकी अन्तिम गति वाराणसीमें होती है, उनके लिये ही यह सिद्धान्त लागू होता है।

जपध्यानविहीनानां ज्ञानवर्जितचेतसाम्।
व्रतस्वाध्यायहीनानां गतिर्वाराणसी नृणाम्॥
(सनत्कुमारसं०)

सनत्कुमारसंहितामें युधिष्ठिरके प्रति सम्बोधन करते हुए लिखा गया है कि 'हे राजन्! घोर कलिकालमें वाराणसीको छोड़कर शरणके लिये दूसरा कोई भी स्थान नहीं है। वाराणसीपुरीमें जप, तप, दान, स्वाध्यायसे विरत जीव भी शरीर छोड़नेपर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं—

इदं कलियुगं घोरं सम्प्राप्तं पाण्डुनन्दन।
गतिमन्यां न पश्यामि मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम्॥
(सनत्कुमारसं०)

भगवान् शंकरने स्वयं वाराणसीपुरीके महत्त्वको माता पार्वतीसे बतलाते हुए कहा है कि वाराणसी क्षेत्रमें निद्रा ही योग है, चलना यज्ञ है, बैठना ही नैवेद्य है और विलास ही पवित्र दान है, बोलना जप है, लेटना प्राणायाम है। अतः शुद्ध मनसे काशीपुरी या वाराणसीमें निवासके लिये मोक्षको दुर्लभ और संसाररूपी दुःखको भयानक समझकर पत्थरसे चरणोंको तोड़कर वाराणसीमें बसनेकी बात जो कही जाती है, उसका तात्पर्य यही है कि अन्तिम समय वाराणसी छोड़कर अन्यत्र कहीं जानेका अवसर न मिले, अर्थात् हठ करके वाराणसीपुरीमें अन्तिम अवस्था आनेपर निवास करना चाहिये।

वाराणसीका शाब्दिक अर्थ

वाराणसीके आध्यात्मिक अर्थके बाद वाराणसीका शाब्दिक भाव निम्नलिखित प्रकारसे है—

अस्यत्यसिर्वारयति प्रवेशे
कर्माणि जन्तोर्वरणा वरेण्या।
वाराणसी मध्यगता तयोश्च
निःशेषयत्यूषरता प्रभावात्॥
(सनत्कुमारसंहिता)

'वाराणसीमें प्रवेश करनेवाले प्राणियोंके पापकर्मोंको असी नदी निकालती है, वरणा नदी उन कर्मोंको पुनः वाराणसीमें जानेसे रोकती है और दोनों नदियोंके मध्यमें स्थित वाराणसीपुरी अपनी ऊसरताके प्रभावसे उन कर्मोंका समूल नाश कर देती है।' वाराणसीपुरीकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें राजा युधिष्ठिरको सम्बोधित करते हुए लिखा गया है कि हे राजन्! शास्त्रोंमें अनेक तीर्थ मृत प्राणियोंको मोक्ष देनेवाले सुने जाते हैं, परंतु उन तीर्थोंमें मरनेपर तुरंत मोक्ष नहीं मिलता। किंतु उनमें मरनेका फल होता है कि उस पुण्य-प्रभावसे उस जीवको दूसरे जन्ममें मृत्युके समय वाराणसीक्षेत्र प्राप्त होता है।

स्मरण रहे कि निम्नलिखित श्लोककी उपर्युक्त व्याख्या आचार्य सुरेश्वरने की है।

तीर्थानि सर्वाण्यपि मोक्षदानि
श्रुतानि शास्त्रेष्वखिलेषु राजन् ।
वाराणसीं प्राप्य फलानि शीघ्रं
कायेन यातोऽव्यवधानवन्ति ॥

मोक्षके लिये ज्ञानकी आवश्यकता

वाराणसीमें मोक्षकी चर्चाके निमित्त प्रस्तुत लेख नहीं लिखा गया है। लेखका विषय है शास्त्रोंमें 'वाराणसी' शब्दकी महत्ता और यत्र-तत्र शास्त्रोंमें काशीके स्थानपर वाराणसीका नामोल्लेख। फिर भी वाराणसी या काशीपुरीका प्रमुख शास्त्रीय विषय है—भगवान् शंकरकी पुरी होना और इस पुरीमें मरणोपरान्त मोक्षकी प्राप्ति दूसरा प्रधान विषय है। आजके इसी स्तम्भमें एक विद्वान् लेखकने लिखा था कि काशी-विश्वनाथ वाराणसी-विश्वनाथ नहीं हो सकते; परंतु मेरा ही नहीं, अनेक व्यक्तियोंका यह दृढ़ मत है कि जब काशी और वाराणसीमें भेद नहीं है, तब अवश्य बाबा विश्वनाथ वाराणसी-विश्वनाथ कहे जायँगे, कहे जाते रहे और कहे जाते हैं। एक भक्त कहता है—

गङ्गातरङ्गरमणीयजटाकलापं
गौरीनिरन्तरविभूषितवामभागम् ।
नारायणप्रियमनङ्गमदापहारं
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥
(महर्षि वाल्मीकि)

वाराणसी-विश्वनाथकी स्तुति अनेक स्थानोंपर प्राप्त होती है। अधिक उद्धरणोंसे लेखका अत्यन्त विस्तार हो जायगा। एक प्रश्न और भी जटिल उत्पन्न होता है। वह प्रश्न यह है कि वाराणसीमें मरणोपरान्त क्या सभी जीव मुक्त हो जाते हैं, वे वह कितना ही पाप क्यों न कर चुके हों? बात भी अत्यन्त संदेहकी है। यदि पापी और धर्मात्माके प्रति वाराणसीपुरीमें कोई भेद ही न रह जायगा तो सभी लोग पापाचरणमें निरत हो जायँगे। 'धर्म'का आचरण करना किसीको अच्छा ही न लगेगा और इस प्रकार वाराणसीपुरी अधर्मकी पुरी हो सकती है। अतः इस प्रसङ्गको भी संक्षिप्त विवेचनके ही साथ समाप्त करना उचित जान पड़ा। वाराणसीमें मरनेपर मुक्ति मिलती है; किंतु यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ मरनेवालोंको ज्ञानकी प्राप्ति 'तारक-मन्त्र' द्वारा होती है। मरनेके समय भगवान् शंकर उसीको तारकका उपदेश देते हैं, जिसपर उनकी कृपा होती है। उनकी कृपा भी उन्हींपर होती है, जो जीव धार्मिक होते हैं। वाराणसीमें रहकर पापाचरण करनेवाले जीवोंको मृत्युके पश्चात् भयानक यमयातना यमदूतोंद्वारा नहीं सहनी पड़ती, अपितु शिवदूतोंद्वारा उन्हें 'रुद्रपिशाच' योनिमें पहुँचाया जाता है और रुद्रपिशाच-योनिमें वैसे जीवोंको तीस हजार वर्षतक कठोर भैरवयातना सहनी पड़ती है, तीस हजार वर्षतक कठोर यातना सहनेके बाद जीव तारकमन्त्रका उपदेश प्राप्त करते हैं और तारक-मन्त्रके उपदेशके बाद उनकी मुक्ति होती है—

वाराणस्यां स्थितो यो वै पातकेषु रतः सदा ।
योनिं प्रविश्य पैशाचीं वर्षाणामयुतं त्रयम् ॥
(काशीखण्ड)

पद्मपुराणमें लिखा है कि वाराणसीमें मरनेवाले जीवोंकी मुक्ति अवश्य होती है; किंतु किसीकी मुक्ति तत्क्षण होती है, किसीकी मुक्ति कुछ काल बाद होती है। धार्मिक जीवोंको भगवान् शंकर तुरंत तारकमन्त्रसे ज्ञान देकर मुक्त कर देते हैं और पापी जीवोंको रुद्रपिशाच-योनिमें तीस हजार वर्षतक यातना भोग लेनेके बाद तारकमन्त्रके उपदेशसे मुक्ति देते हैं।

पद्मपुराणमें पुनः उपर्युक्त कथनकी पुष्टि होती है कि पापी जीवोंकी मुक्ति बिना पिशाचयोनिमें गये नहीं होती। वाराणसीमें वास करने या मृत्यु प्राप्त करनेके पश्चात् दो या तीन अर्थात् बहुत थोड़े जीवोंको तत्क्षण मोक्ष प्राप्त होता है। जो जीव धार्मिक आचरण करनेवाले होते हैं, उन्हींको तत्काल मोक्ष मिलता है—

वाराणस्यां निवसतिरपवर्गफलप्रदा ।
द्वित्राणां च पवित्राणां कल्पते सत्वरं बले ॥
(पद्मपुराण)

काशीखण्डमें लिखा है कि जो जीव कर्मबन्धनोंमें बँधकर जन्म-मरणरूप संसारसे भयभीत हो रहे हैं, जो श्रुति-स्मृति-ज्ञानसे रहित हो, शौच तथा आचार छोड़ बैठे हैं। तथा जिनका मोक्ष कहीं भी सम्भव नहीं, उनकी मुक्ति एकमात्र वाराणसीमें हो सकती है—

संसारभयभीता ये ये बद्धाः कर्मबन्धनैः ।
येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः ॥

यद्यपि यह प्रसङ्ग शास्त्रोंमें बार-बार आया है कि जिनकी कहीं भी गति नहीं हो सकती, उनकी वाराणसीमें मुक्ति होती है, तथापि यहाँ भी मुक्ति उन्हीं जीवोंकी होती है, जिन्हें तारक-मन्त्रका उपदेश मिलता है। तारक-मन्त्रका उपदेश प्राप्त

होनेसे जीवको ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञानसे मुक्ति। ज्ञान और मोक्षको लेकर इन्हीं स्तम्भोंमें पुनः कभी विशेष विचार किया जायगा; क्योंकि यह विषय वाराणसी-नामपर ही उपस्थित किया गया है। पद्मपुराणमें लिखा है कि वाराणसीके अतिरिक्त अन्य तीर्थ तथा पुण्यक्षेत्र एवं भगवान्‌की भक्ति—ये समस्त साधन अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं और वाराणसी भी इस कार्यके लिये उन्हींके समान है। किंतु वाराणसीमें विशेषता इस बात-की है कि यह पुरी तारकमन्त्रके उपदेशद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति कराती है। अभिप्राय यह है कि वाराणसीमें मरनेवाले प्राणीका पुनर्जन्म नहीं होता। यदि वह पुण्यात्मा है तो तत्काल तारकमन्त्र पाकर मुक्त हो जाता है; और यदि पापकर्मा है तो अपने-अपने पापके अनुसार अधिक-से-अधिक तीस हजार वर्षोंतक रुद्रप्रदत्त भैरवी-यातनाको भोगकर अन्तमें तारक-मन्त्र पाकर मुक्त हो जाता है।



सहज त्याग

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'भगवान् अमरनाथके दर्शन होंगे।' श्रद्धा भरी थी स्वरमें। 'जो हम संसारके कर्म-कल्मषग्रस्त प्राणियोंको शुद्ध सत्त्वके सेवनका संदेश देनेके लिये सृष्टिकी आदिसे उस गिरिगह्वरमें उज्ज्वल हिमलिङ्गके रूपमें आसीन हैं, उन आशुतोषके अर्चनका हमें सौभाग्य प्राप्त होगा।'

'हम वहाँ महामाया वैष्णवीदेवीके पादपद्मोंमें प्रणत हो सकेंगे।' शक्तिके आराधकके लिये कम आकर्षण कहाँ है कश्मीरमण्डलमें। 'वे जगद्धात्री द्वापरान्तसे वहाँ तपस्या कर रही हैं। श्रीमूर्ति जो चर्मचक्षुओंको दृष्टिगत होती है, माया है वह तो उनकी। वे साक्षात् तपोनिरत हैं। कल्किके रूपमें युगान्तमें अवतीर्ण होनेवाले अपने नित्य आराध्यकी प्रतीक्षा कर रही हैं वे वहाँ।'

'सबसे महान् सौभाग्य हमारा कि हम भगवती हंसवाहिनीके वरद पुत्रका साक्षात्कार करेंगे।' सबमें वयोवृद्ध विद्वान् बोल रहे थे। 'श्रुतियोंके उन सचल स्वरूपका क्षण-सांनिध्य भी प्राप्त करना कितना महान् पुण्योदय है!'

प्रयागके प्रतिष्ठित पण्डितोंका समुदाय एकत्र था वहाँ उस दिन। जहाँ विद्वान् एकत्र होंगे, वहाँ विद्या, विद्वान् एवं शास्त्रोंकी चर्चा होगी ही। उस दिन एकने अकस्मात् कह दिया—'हम जिनके ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ाते हैं, वे पण्डितराज कल्लट कैसे होंगे?'

आजका युग नहीं था। पुस्तकें छपती नहीं थीं। पत्रों-में उनकी समालोचना नहीं निकलती थी। उनके प्रचारका साधन उनकी श्रेष्ठता ही थी। उन्हें इतना उत्कृष्ट होना चाहिये कि जो एक बार उनके पृष्ठ उलटे, वह इतना समुत्सुक हो उठे कि कई मास उनकी प्रतिलिपि करनेमें होनेवाला श्रम उसे सहज स्वीकृत हो जाय। इस प्रकार प्रतिलिपि-परम्परासे ही उनका प्रचार-प्रसार सम्भव था।

आप अनुमान कीजिये, सुदूर कश्मीरकी किसी एकान्त कुटियामें ग्रन्थ प्रणयन करनेवाले महापुरुषकी अपूर्व शक्तिका। उसके जीवनकालमें ही उसके ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ प्रयाग एवं काशीतक पहुँच गयी थीं और इन संस्कृत विद्याके महान् केन्द्रोंमें देशके सम्मानित विद्वान् उन प्रतिलिपियोंका आदर करते थे। वे अपने अध्यापनमें उनसे सहायता पाते थे।

ऐसे महत्तमके दर्शनकी उत्कण्ठा होना आश्चर्यकी बात तो थी नहीं। परंतु उन दिनों यात्राके लिये केवल अपने पैरोंका आश्रय था। यात्राका संकल्प सरल नहीं था। प्रयागसे कश्मीर—आज भी दूरी उतनी ही है। आप आज पैदल यात्राका एक बार अनुमान लगा देखें। भूलें नहीं कि उस समय आजके समान स्वच्छ प्रदेश एवं उत्तम सड़कें भी नहीं थीं। देश घोर अरण्योंसे व्याप्त था।

ब्राह्मणोंके लिये यात्रामें बहुत सुविधा थी। वनके बर्बर लोग, दस्यु भी अपना सौभाग्य समझते थे उनकी सेवा करनेमें। ब्राह्मणका शाप सह लेनेका साहस क्रूरकर्मियोंमें भी नहीं था। तपस्वी, त्यागी था ब्राह्मण और जब उसमें ब्रह्म-तेज विद्यमान है, वन्यपशु भी उसके चरणोंमें मस्तक ही झुका सकता है।

'केसर और कवित्वकी जन्मभूमि कश्मीरमण्डल है!' आज विद्वद्वर्गके कुछ सम्मान्य सदस्य समुत्सुक हो उठे थे;

यात्राके लिये—'कश्मीरके महाराज विद्वानोंके आराधक कहे जाते हैं। उनकी श्रद्धाको स्वीकृति देना अनुचित नहीं होगा।'

'अनुपम तीर्थ-यात्रा है! सभी दृष्टियोंसे सर्वश्रेष्ठ!' एक तरुण विद्वान् उल्लासमें आये। 'भूस्वर्ग कश्मीरकी सुषमा सरस हृदयको सदा आकृष्ट करती है। ऊपरसे अमरनाथकी यात्रा और महापण्डित कल्लटका साक्षात्कार। भारतके सर्वश्रेष्ठ धर्मप्राण नरपालका आतिथ्य यात्रा-श्रमको दूर करनेके लिये वहाँ प्रथम उपस्थित मिलता है।'

× × × ×

'प्रयागके प्रतिष्ठित विद्वान् पधार रहे हैं!' महाराजको बहुत पूर्व समाचार प्राप्त हो गया अपने सदा सावधान चरोंके द्वारा और उनका आदेश देशकी सीमातकके शासक अधिकारियोंके पास चला गया—'दीर्घकालकी कठिन यात्रासे वे सभी श्रद्धेय क्लान्त होंगे। हमें धन्य करने वे पधार रहे हैं। उनकी सुख-सुविधाकी व्यवस्थामें होनेवाला प्रमाद क्षम्य नहीं होगा। उनकी रुचिका हमें सम्मान करना है। उनकी इच्छा ही हमारे लिये आज्ञा है।'

संतोष नहीं हुआ महाराजको अपने प्रबन्धसे। उन्होंने स्वयं यात्रा की। सम्मान्य अतिथि किसी संकोचमें न पड़ें, इस उद्देश्यसे साक्षात् सम्मुख उपस्थित होनेका साहस नहीं किया उन्होंने। 'राजशिविर साथ-साथ चले तो उन त्यागमूर्तियोंको असुविधा होगी!' नरेशने व्यवस्था इस प्रकार की कि वे अतिथियोंके आगमनसे पूर्व प्रस्थान कर दिया करेंगे एक पड़ाव आगे। इस प्रकार प्रथम पहुँचकर सब व्यवस्थाका स्वयं निरीक्षण कर लिया करेंगे वे।

'वे विद्वान् हैं, ब्राह्मण हैं, तप एवं तेजके स्वरूप हैं!' महाराज सतत सावधान थे। 'कहीं वे रुष्ट न हो जायँ! उनके संयम, अर्चन एवं आह्निकमें कोई व्याघात न पड़े।'

ब्राह्मणोंको यह बतानेकी भी अनुमति नहीं थी सेवकोंको कि उनका सत्कार स्वयं कश्मीरके अधिपति कर रहे हैं। उन विद्वानोंके लिये यह अनुमान कर लेना कठिन नहीं होगा, यह दूसरी बात।

यात्रामें कष्ट तो होता ही है। एक योजनसे अधिक न चलनेवाले इन विप्रोंकी यात्रा! त्रिकाल स्नान-संध्या, विस्तृत नित्यकर्म एवं पूजन—कैसे सम्भव है कि यह सब करते हुए कोई एक योजनसे अधिककी यात्रा एक दिन कर ले! मार्गमें उन्हें चातुर्मास्य भी तो करने पड़े। प्रयागसे प्रस्थानके दिन उस समयका यात्री गिनने बैठ नहीं सकता था।

उन तेजोमूर्तियोंको कहीं प्रतिकूलता प्राप्त नहीं हुई। देवता और दस्यु दोनों उनकी सेवा करके अपनेको भाग्यशाली मान सकते थे। उनसे सदा आग्रह ही किया मार्गमें पड़नेवाले नगरों एवं अरण्यके वासियोंने—'आप सब एक दिन और रुककर हमें पवित्र करते।'

निर्जन अरण्य भी आये—कुछ अर्थ नहीं था। उनकी सेवाका सौभाग्य वहाँ अधिक प्राप्त होगा, इस प्रलोभनसे अनेक सुदूर ग्रामोंके सरल प्राणी पहले पहुँच जाया करते थे। अरणि-मन्थन करके अग्नि प्रकट करना पड़ता था केवल यज्ञके लिये और वारुण-मन्त्रोंका कभी प्रयोजन नहीं पड़ा। जलका अभाव सम्मुख आया नहीं। तपस्वी ब्राह्मणोंका वृन्द जब यात्रा करता हो, प्रकृति सत्त्व-परीक्षणकी धृष्टता नहीं कर सकती।

× × × ×

'अतिथि महापण्डितके दर्शन करने पधारेंगे सर्वप्रथम!' महाराजको इसकी आशा पहलेसे थी। व्यवस्था उसके अनुरूप करनेमें कोई कठिनाई नहीं थी; किंतु महापण्डितके आश्रमपर तो कोई व्यवस्था की नहीं जा सकती।

'भद्रे! अतिथि पधारे हैं! अर्घ्य!' महापण्डित अपनी लेखनी छोड़कर बड़ी आतुरतापूर्वक उठे थे। उन्होंने आज पता नहीं कितने वर्षोंके पश्चात् पत्नीको उच्च स्वरमें पुकारा था।

गौरवर्ण, कृशकाय, उन्नतभाल, रजतश्मश्रु—जैसे कोई जनलोकका ऋषि धरापर उतर आया हो। शिलापर एक जीर्ण कुशासन पड़ा था और आसपास भूर्जपत्र बिखरे पड़े थे।

मृत्पात्रमें अर्घ्यके लिये जल लेकर जब महापण्डितकी सहधर्मिणी उटजसे बाहर आयीं—सत्ययुगकी कोई ऋषिपत्नी अवश्य ऐसी ही होंगी।

'हम आपके दर्शनार्थ आये हैं। साक्षात् न सही—आपके वाङ्मयके शिष्य हैं हम!' आगतोंने श्रद्धासमन्वित प्रणिपात किया। पण्डितराज उन्हें साष्टाङ्ग अभिवादन कर रहे हैं—यह अत्यन्त संकोचकी बात थी।

'आज मैं धन्य हुआ! आप ब्राह्मण-अतिथियोंके श्रीचरण यहाँ आये! मेरा गार्हस्थ्य सार्थक हुआ।' महा-

पण्डितके नेत्रोंसे बिन्दु नहीं टपकते थे—धारा चल रही थी। 'आप सत्त्वमूर्तियोंमें यह शील, विनम्रता, श्रद्धा स्वाभाविक है; किंतु आतिथ्य मेरा अधिकार है। मैं आपको संकोचमें नहीं डालूँगा। आप सब जैसे संतुष्ट हों।'

महापण्डितने स्वयं चरण-प्रक्षालनका आग्रह नहीं किया। उन्होंने देख लिया कि अतिथि इससे संकोच पा रहे हैं। जल देकर उन्होंने चरण धुलाये। शिलापर चटाई बिछा दी। तपस्वीके आश्रमका आतिथ्य उसके उपयुक्त ही तो होगा।

'आपकी सत्कीर्ति हमें ले आयी है।' आगतोंने अपना परिचय दिया। 'हम धन्य हुए इन चरणोंके दर्शन करके।'

लोकोत्तर विद्वानोंका मिलन हुआ था। उनकी विनम्रता अपूर्व थी। 'विद्या ददाति विनयम्' यह प्रत्यक्ष हो गया उस दिन वहाँ।

'अतिसांनिध्यादनादरम्।' तनिक एकान्त पाकर प्रयागके एक पण्डितने अपने सहचरोंसे धीरेसे कहा—'यहाँका नरेश ऐसे अमूल्य रत्नका भी आदर नहीं कर सका।'

'यह जीर्ण कुटीर! यह कंगाली और सरस्वतीके ऐसे वरद पुत्रके पास!' व्यथा सबके चित्तको पीड़ित कर रही थी। 'हम कल उसे धिक्कारेंगे। वह अपने परमपूज्यका उचित पालन भी कर नहीं सकता—कितना अधम है यहाँ-का नरपाल!'

× × × ×

'मैं आप सबकी आज्ञा शिरोधार्य करनेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझता हूँ।' महाराजने बड़ी ही नम्रतापूर्वक निवेदन किया। 'किंतु महापण्डितके सम्मुख इसे उपस्थित करनेका साहस मुझमें नहीं है। आप इसे उनतक पहुँचा देनेकी कृपा करें और वे यदि रुष्ट हों तो आप सब उन्हें शान्त कर लेंगे, यह आश्वासन मुझे दें!'

'आप भय न करें!' विद्वानोंने आश्वासन दिया। 'हम यह दानपत्र स्वयं महापण्डितको अर्पित कर देंगे।'

'हम इतना ही चाहते हैं कि यह कश्मीरभूमि उनके श्रीचरणोंसे धन्य बनी रहे!' दानपत्र प्रयागके पण्डितोंको अर्पित करते हुए महाराजके कर कम्पित हो रहे थे। 'आप-के आश्वासनका मुझे अवलम्बन है। वही हमारा आधार है।'

प्रयागके विद्वान् राजसभामें पधारे थे। महाराजने उनका श्रद्धा-समन्वित स्वागत किया था, उन्हें वस्त्राभरण एवं विपुल दान-दक्षिणा प्रदान की थी; किंतु उन विद्वान् ब्राह्मणोंने नरेशके सम्मानके प्रति आस्था नहीं व्यक्त की। वे भारतीके भव्य पुत्र—उन्हें भय किसका! उन्होंने स्पष्ट सुना दिया—'नरेश! तू हमें इस कञ्चनसे ठगना चाहता है? तू चाहता है कि इसे लेकर हम तेरा स्तवन करें, तेरी कीर्तिका प्रसार करें? कृपण! तेरे यहाँ अमूल्य रत्न है और तूने उसको दो मुट्ठी अन्न देनेकी व्यवस्था भी नहीं की। भारतका सर्वश्रेष्ठ विद्वान् तेरे यहाँ जीर्ण तृणकुटीरमें कच्चे फलोंपर जीवनयापन करनेको विवश है!'

'आप सब सत्य कहते हैं।' नरेशके नेत्रोंमें अश्रु आ गये। 'किंतु महापण्डित कुछ स्वीकार करेंगे, इसकी सम्भावना कहाँ……।'

'तूने प्रयत्न किया कभी?' विद्वानोंका रोष शान्त नहीं हुआ था। अन्ततः उनका आदेश महाराजने डरते-डरते स्वीकार किया। एक उत्तम जागीरका दानपत्र लिखवाया उन्होंने और राजमुद्रासे उसे अङ्कित करके उन पण्डितोंको अर्पित कर दिया।

'क्या प्रश्न है? वैसे ही सुना दें आप सब!' वह दानपत्र लेकर जब विद्वानोंका समुदाय महापण्डितके आश्रममें पहुँचा और उनके चरणोंके समीप उन्होंने वह दानपत्र धर दिया, तब महापण्डितने समझा कि कोई लिखित शङ्का इन विद्वानों-ने उनके सम्मुख रखी है।

'कोई प्रश्न नहीं।' नम्रतापूर्वक ब्राह्मणोंने कहा। 'नरेशने निर्वाहयोग्य भूमि श्रीचरणोंमें अर्पित की है, उसका यह दानपत्र है।'

'इतना साहस आ गया उसमें! अब वह इतना गर्विष्ठ हो गया कि कल्लटको दान देने लगा है?' महापण्डित झटकेसे उठ खड़े हुए। दानपत्र शिलासे नीचे गिर पड़ा। उन्होंने चटाई गोल करके बगलमें दबा ली और कमण्डलु उठाया। पत्नीको आदेश दिया—'भद्रे! यह भूमि अब ब्राह्मणके रहने योग्य नहीं रही। इसके शासकमें धनमद आ गया। चलो, चलें यहाँसे।'

पतिव्रताको लेना क्या था, उटजमें उसकी गृहस्थी कितनी थी। उसने अपना जीर्ण उत्तरीय मस्तकपर डाला और द्वारसे बाहर आ खड़ी हुई।

'मुझे क्षमा कर दें! यह अपराध मैंने स्वतः नहीं किया

है।' कश्मीरनरेश वृक्षोंके पीछेसे निकले और चरणोंपर गिर पड़े।

'यह अपराध हमारा है। हमने महाराजसे अनुरोध किया था।' विद्वानोंने करबद्ध प्रार्थना की।

'आप सब तो अतिथि हैं!' महापण्डित शान्त हो गये। उन्होंने संकेत किया पत्नीको कुटियामें चले जानेका। चटाई शिलापर बिछा दी। कमण्डलु धर दिया। दानपत्र उठाकर फाड़ते हुए नरेशसे बोले—'जब ब्राह्मण आगे हों, क्षत्रिय क्षम्य हो जाता है। अब जा! फिर आश्रममें मत आना।'

'ब्राह्मणका—मनुष्यमात्रका आराध्य धन है धर्म!' महापण्डितके आसनकी शिलाके आस-पास दानपत्रके टुकड़े वायुमें उड़ रहे थे। वे महामानव प्रयागसे पधारे पण्डितोंको बता रहे थे। 'जिसके पास वह धर्मरूपी धन है, क्या करेगा वह इस स्वर्ण-भूमि आदिका; ये तो कंगालोंकी कौड़ियाँ हैं उसके सम्मुख!'

सेवाका तत्त्वज्ञान

(लेखक—श्रीमहेन्द्रजी मिश्र 'मत्त' साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

जगत्‌के महान् व्यक्तियोंने सेवाधर्मको अपनानेके लिये बहुत जोर दिया है। ईश्वरसेवा, सभी प्राणियोंकी सेवा, गो-सेवा आदि करनेवाले लोगोंको जनताने अपने आदरका पात्र बनाया। सभीके कल्याण अथवा हितमें लगे रहना सेवाके अन्तर्गत ही है। भगवद्गीता-रामायण आदि ग्रन्थोंमें जिस भक्तिकी महिमा बतलायी गयी है, वह 'भक्ति' शब्द भी 'भज्' धातुसे बना है—जिसका अर्थ है 'सेवा'। भगवान्‌की भक्ति या भजन अथवा भगवान्‌की सेवा एक ही अर्थके द्योतक हैं। भक्ति या सेवाके द्वारा मुक्ति-सरीखा दुर्लभ पदार्थ मिलता है। भक्तिको भक्तोंने इतना ऊँचा बताया है कि मुक्ति भी उसके सामने नगण्य है। इस विषयपर हम विचार करें कि सेवाके द्वारा हमें उस महान् पदकी प्राप्ति क्योंकर हो सकती है। महात्मा गांधी देश-सेवा इसलिये करते थे; क्योंकि उनका यह विश्वास था कि देश-सेवाके द्वारा उन्हें ईश्वर एवं सत्यका साक्षात्कार होगा। उनका यह कहना बिल्कुल ठीक था कि सेवाकी वृत्ति अपनानेमें लौकिक दृष्टिसे सर्वोदय और पारमार्थिक दृष्टिसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है।

वेद एवं संत-महात्माओंके कथनानुसार मनुष्य-जीवनका चरम उद्देश्य ब्रह्म या ईश्वरका साक्षात्कार करना ही है। यह कैसे हो सकता है? इसका उपाय यह है कि मनुष्य अपने नित्यके जीवनमें प्रत्येक भूत-प्राणीमें ईश्वर-दर्शनका प्रयत्न करे। सृष्टिके सभी पदार्थोंके साथ उसका अटूट सम्बन्ध है। वह एक अविभक्त-तत्त्व है, जो सभी जगह व्याप्त हो रहा है—इस सूक्ष्मताको समझ लेनेके बाद उसके लिये अपना कोई भिन्न स्वार्थ नहीं रह जाता है।

वह अनेकतामें एकता सिद्ध करते रहनेकी चेष्टामें रहता है। इस चेष्टाके सिलसिलेमें जो कार्य वह करता है, उसीको 'सेवा' कहते हैं। यानी सेवा उस साधनका नाम है, जिसके द्वारा हम अपने इर्द-गिर्द या परिवार या ग्राम, जिला, प्रान्त और देशके सभी जड-चेतनमें ही नहीं, अपितु अखिल विश्वके समस्त भूत-प्राणियों एवं स्थावर-जङ्गम पदार्थोंमें उस 'अविभक्त' ईश्वरके दर्शन करना।

वास्तवमें विभक्त दीख पड़नेवाले ये सभी नाम और रूप अविभक्त हैं। आइये, हम इसे सिद्ध करें। हम देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्यागते, ग्रहण करते, आँख खोलते और मींचते एवं इसी तरहके बहुत-से काम करते हैं। यदि हम अविभक्त न होते तो इनमेंसे कुछ भी नहीं कर सकते थे। द्रष्टा, दृष्टि एवं दृश्य, घ्राता, घ्राण एवं घ्रातव्य आदिकी एकताको सिद्ध करनेकी चेष्टामें हम यहाँ नहीं पड़ेंगे; क्योंकि इनकी एकता तो हर तरहसे सिद्ध है। प्रतिदिनके पारस्परिक व्यवहारमें एक व्यक्ति अन्य लोगों एवं वस्तुओंके साथ कितना सम्बन्धित है, इसे ही हमें यहाँ सिद्ध करना है।

सीमेंटसे बनी हुई फर्शपर—जिसपर एक चटाई बिछी है, तथा चादर बिछी है—हम बैठे हैं। सीमेंटकी फर्श बनानेमें जिन साधनोंसे मदद मिली, उन सभीके साथ हमारा सम्बन्ध हो गया। ईंटे बनानेके लिये जहाँसे मिट्टी ली गयी, उस भूमिके साथ, मिट्टी खोदनेवाले मजदूरोंके साथ, ईंट पाथनेवाले श्रमिकोंके साथ, ईंटे ढोकर भट्ठा बनानेवाले कारीगरोंके साथ, जिस भूमिसे कोयला निकला, उस भूमिके साथ,

कोयला-खानका पता बतानेवाले भू-गर्भ-शास्त्रियोंके साथ, भूमि खुदवाकर खान तैयार करनेवाले मालिकोंके साथ, खान खोदनेवालोंके साथ, खान खोदनेमें अथवा उसका पता लगानेमें जिन यन्त्रों एवं औजारोंके प्रयोग हुए हैं, उनके निर्माण करनेवालोंके साथ, कोयला ढोनेवाली मालगाड़ियों या बैलगाड़ी बनानेवालोंके साथ, एवं इन्जिन, ड्राइवर, गार्ड, स्विचमैन एवं अन्य रेलवे-अधिकारियोंके साथ, उन बैलोंके साथ, जिन्होंने गाड़ियोंमें जुतकर उन्हें ढोया, सीमेंट बनानेवाली कम्पनीके मजदूरों, शेयर-होल्डरों, मैनेजिंग एजेन्टों, मैनेजरों एवं अन्य श्रमिकोंके साथ तथा उस भूमिके साथ, जहाँपर सीमेंट-निर्माणके लिये पत्थर या केमिकल्स उठाये गये, या उस देश अथवा उस देशके लोहेके साथ, जिसके द्वारा सीमेंट बनानेकी मशीन तैयार हुई, उन राजमिस्त्रियों एवं रेजा-मजदूरोंके साथ, जिन्होंने मकानकी गथनी की तथा सीमेंटका फर्श बनाया, चटाई बनानेवालेके साथ, जिस भूमिसे चटाईकी घास उपजी, उस भूमिके साथ, जिन साधनोंके द्वारा वह चटाई ढोकर लायी गयी और फर्शपर बिछायी गयी, उन सभी साधनोंके साथ, चादर बुननेवालोंके साथ, उसके धोनेवालोंके साथ, उसके सूत कातनेवालोंके साथ, उस रूई उपजानेवालोंके साथ, उस भूमिके साथ, जहाँ रूई उपजायी गयी। इस तरह लाखों मनुष्यों एवं प्राणियोंसे हमारा सम्बन्ध जुट जाता है। यदि गम्भीरतासे विचार करें तो समझमें आ जायगा कि हमारे इस साढ़े तीन हाथके शरीरका सभी जड-चैतन्यात्मक पदार्थोंसे अटूट सम्बन्ध है और इसीलिये भगवद्गीतामें कहा गया है कि आसुरी बुद्धिवाले व्यक्ति यही समझते हैं कि हमारा दूसरोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। जो ऐसा समझते हैं कि हमको सेवासे कोई मतलब नहीं, हमको दूसरा कौन कमाकर खिला देगा, हमको अपने मतलबसे काम है, इत्यादि—ऐसे व्यक्ति सेवा-धर्मके महत्त्वको नहीं समझते। इसलिये वे मनुष्य राक्षसी स्वभावके कहे गये हैं।

हम भोजन करते हैं। दूध, दही, घी, गेहूँ, चावल, बेसन, तरकारी आदि खाते हैं। कड़ाही, तवा, बटलोही एवं उसी तरहके अन्य बर्तनोंका हम उपयोग करते हैं। हम यदि आत्मोदधिमें गोता लगायें तो हमें पता चल जायगा कि हमारा लाखों-करोड़ों प्राणियोंके साथ अटूट सम्बन्ध है। हम सड़कपर चलते हैं। हम अपने बच्चोंको स्कूलोंमें पढ़ाते हैं। हम अपने दैनिक जीवनमें इसी तरहके बहुत-से काम करते तथा करवाते हैं। हमारा नित्य ही करोड़ोंके साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है। हमारा इस सृष्टिसे, अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डसे सम्बन्ध है। मनुष्य जब इस सम्बन्धको समझ जाता है, तब वह बोध करने लगता है कि वह एक साढ़े तीन हाथका शरीर नहीं, अपितु वह एक ऐसा तत्त्व है, जो सर्वव्यापी तथा सर्वगत है। वह सृष्टिका उत्पादक, संचालक, नियामक और संहारक है। वह सूर्योंका सूर्य है और है वह एक अद्वैत-तत्त्व। इसको समझनेकी जो कला है, उसीका नाम है सेवा। इसी सेवाके द्वारा हम उस परमतत्त्वको जान सकते हैं। अतएव सेवाके तत्त्वज्ञानका अर्थ है—ईश्वरत्वके साथ अपनेको जोड़ना।

रामकृपा बिना शान्ति नहीं

कागभुशुण्डिजी कहते हैं—

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(उत्तरकाण्ड)

श्रीभगवान्‌के चरणचिह्नोंका चिन्तन

(लेखक—श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध अट्ठाईसवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें भगवान् श्रीकपिल सबीजयोग आदिकी उपासनाका वर्णन करते हैं, जिससे चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न होकर परमात्माके मार्गमें प्रवृत्त हो जाता है । वैसे तो श्रीमद्भागवतका एक-एक अक्षर भगवत्स्वरूप है । किसी भी स्थलका स्मरण-चिन्तन करें—सब कल्याणकारी है ।

अज्ञात प्रेरणा या भगवद्-भावनासे अधिकारिभेद, काल-भेदका विचार करके स्थल-स्थलका चिन्तन करनेका उपदेश भागवतगणोंने किया है । वैसे ही निम्न श्लोकके स्मरणके साथ श्रीभगवच्चरणचिह्नोंका स्मरण करके हम अपना कल्याण-साधन कर सकते हैं । प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल और रात्रिमें सोनेसे पहले यानी दिनभरमें चार बार इनका स्मरण कर लेनेमें कोई भी कठिनता नहीं है, अपितु यह कार्य सुसाध्य ही है । साथ ही विश्वमाता गौके सुखी होनेकी भावना करें तो और भी उत्तम है ।

> आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
> योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
> संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
> गेहंजुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥
> (श्रीमद्भा० १० । ८२ । ४९)

श्रीगोपियोंने कहा—'हे कमलनाभ ! अगाधबोधसम्पन्न बड़े-बड़े योगेश्वर अपने हृदय-कमलमें आपके चरण-कमलोंका चिन्तन करते रहते हैं । जो लोग संसारके कुएँमें गिरे हुए हैं—उन्हें उससे निकालनेके लिये ये चरण-कमल ही एकमात्र अवलम्बन हैं । प्रभो ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपके वे चरण-कमल घर-गृहस्थीके काम करते हुए भी सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें विराजमान रहें, हम एक क्षणके लिये भी उन्हें न भूलें ।'

यों दिवस और रात्रिमें चार बारका नियम रखनेसे अभ्यास हो जानेपर प्रतिक्षण ही स्मरण बना रहेगा । भगवान्‌के चरणचिह्नोंका ध्यान अधिकार, परिस्थिति, प्रयोजन अथवा विशुद्ध प्रेमके आधारपर किया गया है । चरणरेखाके प्रेमियोंमें जटायु उदाहरणीय हैं । रेखाओंके चिन्तनसे ही उन्होंने अन्तिम समयमें भगवान्‌के दर्शन और योगिदुर्लभ गति प्राप्त की ।

> आगें परा गीधपति देखा । सुमिरत रामचरन जिन रेखा ॥

ऐसे ही हम आजकी इस विषम परिस्थितिमें भगवन्नामके साथ चरण-कमलोंके चिह्नोंका स्मरण करें तो निश्चय ही सफल होंगे । श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्धके अध्याय अट्ठाईसवेंमें इन चिह्नोंका वर्णन २१ वें श्लोकमें है ।

> संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
> वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
> उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
> ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥

श्रीमन्मानस-रामायणमें है—

> जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी ।
> नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी ॥
> ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे ।
> पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे ॥

विनयपत्रिकामें कहा है—

> हरि ! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
> साधन धाम बिबुध दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों ॥
> कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के एक एक उपकार ।
> तदपि नाथ कछु और मागिहौं दीजै परम उदार ॥
> बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
> ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥
> कृपा डोरि बनसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो ।
> एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥

हैं श्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै ।
तुलसिदास यह जीव मोह रजु जेहिं बाँध्यो सोइ छोरै ॥

(पद १०२)

गीधराज सैं भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ ।
गोदावरी निकट प्रभु रहे परनगृह छाइ ॥

(अरण्यकाण्ड १३)

यहाँ कृपारूपी डोरी, अङ्कुशरूपी बनसी, प्रीतिरूपी मृदु चारा लगाकर विषयरूपी जलमें जीवरूपी जटायुके मनमीन-को फँसानेके लिये 'रहे परनगृह छाइ', तब गीधपति-को रेखाका स्मरण करते देखा, जो आहत होनेका कष्ट भूलकर चरणरेखाका स्मरण कर रहा था । तब क्या देर थी—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर ।
निरखि राम छबिधाम मुख बिगत भई सब पीर ॥

(अरण्य० ३०)

यह कृपा भगवान् जीवमात्रपर करते हैं । हम उसे लेते नहीं, भूल जाते हैं । प्रभु स्वयं जीवके कल्याणकी बाट देखते हैं । श्रीभगवान्‌के अनेक चिह्न एक महात्माने यों बताये हैं—दक्षिण पादमें—

१. अङ्गुष्ठमूलमें चक्र—भक्तोंके षडूर्मि-छेदनके लिये ।
२. मध्यमा-मूलमें कमल—भक्त-चित्त-भ्रमरको लुभानेके लिये ।
३. उसके नीचे ध्वज—सर्वानर्थपर विजय पानेके लिये ।
४. कनिष्ठामूलमें वज्र—भक्तोंके पाप-पर्वत-भेदनके लिये ।
५. पार्ष्णिसव्यमें अङ्कुश—भक्तोंके चित्तरूपी हाथीको वशमें करनेके लिये । बनसी भक्त-मन-मीनको मारनेके लिये या अपने वशमें करनेके लिये ।
६. अङ्गुष्ठपर्वमें यव—भोग-सम्पत्तिके लिये ।
७. स्वस्तिक—कल्याणके लिये ।
८. ऊर्ध्वरेखा—ऐश्वर्यके लिये ।
९. अष्टकोण वाम पादमें ।
१०. इन्द्रचाप ।
११. त्रिकोण ।
१२. कलश ।
१३. अर्धचन्द्र ।
१४. अम्बर ।
१५. मत्स्य ।
१६. गोष्पद तथा एक चिह्न जम्बूफलसमाकार कहीं भी किसी भी स्थानमें एक या अनेक ।

मन, इतनोई या तनु को परम फलु ।
सब अँग सुभग बिंदु माधव छबि तजि सुभाव अवलोकु एक पलु॥
तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु नख दुति हृदय तिमिर हारी ।
कुलिस केतु जव जलज रेखबर अंकुस मन गज बसकारी ॥

(विनयपत्रिका ६३)

शास्त्रज्ञ विद्वानोंसे प्रार्थना है कि इसमें जो कुछ सुधार आवश्यक हो, करके हम जीवोंका कल्याण करें और सम्मान्य पत्र-सम्पादकोंसे विनय है कि वे इसका प्रचार करें, जिससे विश्वविनाशकारी महापाप, प्रकृतिमण्डलका घोर तमोगुणी कृत्य—विश्वमाता गौ (गावो विश्वस्य मातरः) का वध बंद हो । विश्वमें तभी सुख-शान्ति होगी । 'यतो गावस्ततो वयम्'—यह त्रिकाल सत्य है ।

सत्सङ्गकी महिमा

सत संगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सत संगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥

(बालकाण्ड)

भक्त-गाथा

भक्तवर श्रीनन्दरामजी*

(लेखक—श्रीगङ्गाधरजी शास्त्री वैद्य)

पंजाबके करनाल जिलेके पवित्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें तीर्थस्थानसे आगे दस कोसकी दूरीपर स्कन्दपुराणमें वर्णित वर्गीश्वर तीर्थके किनारे यमुनासे निकाली गयी नहरसे डेढ़ फर्लांगकी दूरीपर संग्रामपुर (संगरोली) कसबा है। वर्गीश्वर तीर्थके लोगोंसे सुना जाता है कि महाभारतके युद्धमें मृत योद्धाओंके दाह-संस्कारके लिये पवित्र भूमिको खोजते समय श्रीव्यासजी महाराजने इसी भूमिका निर्देश किया था। यहींपर मृतकोंकी और्ध्वदैहिक क्रियाएँ सम्पन्न की गयी थीं। व्यासजी महाराजने इस भूमिको साक्षात् स्वर्गका सोपान कहा है। मृतकोंकी मुक्तिके लिये किये गये जप-यज्ञको इस प्रदेशमें वर्णी अब भी कहा जाता है। यहींपर महाराजा युधिष्ठिरने हजारों ऋषियोंसे सबकी मुक्तिके लिये यज्ञ करवाये थे, तभीसे इस तीर्थको 'वर्गीश्वर' कहा जाता है।

इसी तीर्थके किनारे बसे हुए संग्रामपुर (संगरोली) कसबेमें घृतकौशिकगोत्रीय ब्राह्मणोंका एक बड़ा परिवार रहता है। इसी परिवारमें हमारे चरितनायक गुरुदेव विद्यावारिधिजीके पितामह नत्थूरामजीका जन्म हुआ था। कसबेमें सैकड़ों घर रोड़ों (एक तरहकी जाट जाति) के, कुछ वैश्य परिवार एवं सिक्खोंके घर हैं। कुछ अन्य नाई, धोबी, चमार, मुसल्मान, कुम्हार आदिकोंके घर हैं। समस्त कसबेमें नत्थूरामजी ही प्रधान पंच थे। नहरके किनारे करीब डेढ़ सौ बीघोंमें विस्तृत उपजाऊ क्षेत्र 'गोलेवाला' प्रसिद्ध है। इसी क्षेत्रमें नत्थूरामजीके पिता शिवलालजीने एक छोटा-सा तालाब तथा ४० बीघामें एक सुन्दर बाग लगाया था, जिसमें कलमी आमोंके १०–१५ पेड़ तथा अन्य जातिके आम, अमरूद, नींबू, अनार सहतूत आदिके पेड़ हैं। १०० बीघोंके विस्तृत क्षेत्रमें नत्थूरामजी गेहूँ, चना, ईख, कपास आदिकी बड़े पैमानेपर खेती करते थे। कृषिकार्य करनेके कारण आपका परिवार बिल्कुल आत्मनिर्भर रहता था। नहरके किनारेसे सटा रहनेके कारण हर साल आपको बहुत अच्छा लाभ रहता था। इन्हीं पुण्यश्लोक नत्थूरामजीके घर हमारे चरितनायक विद्यावारिधिजीके पिता भक्त नन्दरामजीका जन्म हुआ।

भक्तवर नन्दरामजी बहुत ही सीधे-सादे नम्र स्वभावके भजनानन्दी व्यक्ति थे। सात-आठ वर्षकी अवस्थामें ही गाय-भैंसोंको जंगलमें ले जाकर नहरके किनारे चराया करते थे। दैवयोग कहिये या भगवत्कृपा, आपके घरके पुरोहित एक दिन कथा बाँचनेके लिये संग्रामपुरमें आये। सात दिनोंतक आपका श्रीमद्भागवतका सप्ताहपारायण श्रीनत्थूरामजीने करवाया। भक्तजीको उनकी सेवामें रखा गया। भक्तजीको और क्या चाहिये था? वे श्रद्धापूर्वक पुरोहितजीकी सेवा करने लगे और तल्लीन होकर कथा सुनने लगे। पुरोहितजीके पास एक शालग्रामजीकी मूर्ति थी, जिसे उन्होंने भक्तजीको सौंपकर कहा था कि जिनकी यह कथा है, वे ही कृष्णभगवान् ये हैं। भक्तजी शालग्रामजीको नहलाते और उनका पूजन करते तथा रातको दूधका भोग लगाकर शयन करवाते और आप भी श्रीभगवान्के चरणोंमें शयन करते। ज्यों-ज्यों कथाका प्रभाव आपपर होता गया, त्यों-त्यों आपकी भगवान्में श्रद्धा बढ़ती गयी। वे दिनभर

---

* शेखावाटीको शिक्षावाटी बनानेवाले भक्तवर आचारनिष्ठ महाविद्वान् पण्डित श्रीरामधारीजी शास्त्रीके जीवनचरित्रसे संकलित।

भगवान्‌की ओर दृष्टि लगाकर बैठते और तल्लीन होकर उनकी कथा सुनते ।

सात दिनके अंदर पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण या कथाके प्रभावसे उनका भगवान्‌में बहुत प्रेम हो गया । एक मिनट भी वे भगवान्‌के बिना नहीं रहते ।

कथा समाप्त हो जानेके आठवें दिन जब पुरोहितजी भगवान्‌को सिंहासनसहित पेटीमें बंद करके ले जाने लगे, तब वे रो पड़े और बड़े विनीत स्वरसे भगवान्‌को न ले जानेकी प्रार्थना की और कहा कि 'मेरे भगवान्‌को यहीं छोड़ जाइये, वहाँ इनको रातको दूध कौन पिलायेगा ? भगवान्‌के बिना मैं दूध किसको पिलाऊँगा ।' इस तरह पुरोहितजीके सामने वे गिड़गिड़ाने लगे । पुरोहितजी भला, भगवान्‌को क्यों देने लगे । अन्तमें इनका आग्रह देखकर पुरोहितजी कल आनेका बहाना बनाकर अपने गाँवको चले गये । दूसरे दिन दोपहरतक भक्तजी पुरोहितजीकी प्रतीक्षामें रास्तेमें बैठे रहे; किंतु जब पुरोहितजी भगवान्‌को लेकर नहीं लौटे, तब फिर भक्तको चैन कहाँ । अपनी गायोंको नहरके किनारे छोड़कर वे पुरोहितजीके गाँव पहुँचे ।

पुरोहितजी महाराज अभीतक यजमानोंके यहाँ ही चक्कर लगा रहे थे । ठाकुरजीकी पूजा नहीं हुई थी । भक्तजीको बड़ा दुःख हुआ । तुरंत स्नान करके उन्होंने भगवान्‌को भोग लगाया । इतनेमें ही पुरोहितजी भी आ गये । भक्तजीने पुनः उनसे भगवान्‌को देनेकी प्रार्थना की; किंतु जब भक्तको भगवान्‌के बिना टलता हुआ नहीं देखा, तब पुरोहितजी नहरके किनारेसे एक सफेद गोल चिकना पत्थर ले आये और भक्तराजसे बोले—'ये काले-काले तो भगवान्‌के भाई बलरामजी हैं । असली भगवान् तो ये हैं, तुम इनको ले जाओ । मैं भी रात-दिन इन्हींको अपने पास रखता हूँ । बलरामजी घरका प्रह[illegible] इसलिये बलरामजीको यहीं छोड़ दो मेरे पास और इन सफेद भगवान्‌को ले जाओ ।' भक्तराजको यह बात जँची तो नहीं; किंतु पुरोहितजीके समझानेपर भोले भगत मान गये और उन्हीं सफेद भगवान्‌को श्रद्धापूर्वक पत्तेके सिंहासनमें बैठाकर घर ले आये और नोहरेमें लकड़ीका सिंहासन बनाकर उन्हें स्थापित कर दिया और वैसे ही नहलाने लगे । वे रोज घंटी बजाकर बड़े प्रेमसे उन्हें भोग लगाते और दिनभर उनके पास टकटकी लगाये बैठे माला फेरते रहते ।

गाय चराना छोड़ देनेके कारण भक्तजीके पिता नत्थूरामजी उनपर बहुत कुपित हुए । उन्होंने उनके उन सफेद भगवान्‌को उठाकर फेंक दिया और बोले—'कुछ पढ़ा है न लिखा है, झूठे ही भक्त बनता है; गाय-भैंसें खराब हो रही हैं, जा उनको सम्हाल । हम खेती करनेवालोंके घर ऐसी भक्ति कैसे निभ सकती है । खबरदार ! आगेसे पूजा-पाठका ढोंग लगाया तो । अपने तो भगवान् गाय-भैंस ही हैं, जिनसे अपना काम चलता है । भगवान् भी तो इन्हींसे अपना काम चलाते थे ।'

भक्तजी बेचारे दुखी होकर गाय-भैंस चराने निकले । किंतु दिनभर उनका मन नहीं लगा । दिन-भर विचारते रहे कि 'आज भगवान् बिना नहाये ही बैठे होंगे । उनके आज भोग कौन लगायेगा ? पिताजीने क्रोधमें आकर उनको नालीमें तो नहीं फेंक दिया ? तो वे बेचारे क्या खायँगे ? मैं उनको क्यों छोड़कर आया ?' इस प्रकार विचार करते हुए चिन्तामग्न हो गये । घरसे लायी हुई रोटियाँ बँधी पड़ी रहीं । जलतक ग्रहण नहीं किया । सायंकाल आकर भगवान्‌को सम्हाला, किंतु नत्थूरामजी सायंकाल भी कब उनको पूजा करने देते । वे बड़े नाराज हुए और भगवान्‌को उठाकर उन्होंने नालीमें फेंक दिया । भक्तजीने दुखी होकर रातको कुछ नहीं खाया सबके सो जानेपर उन्होंने चुपचाप नालीमेंसे ढूँढ़कर भगवान्‌को निकाला, स्नान करके पूजा की और अपनी

विवशताके लिये क्षमा माँगी। रातभर बिस्तरोंमें भगवान्‌को छिपाये रखा। सुबह शौचादिसे निवृत्त होकर गाय-भैंसोंके साथ भगवान्‌को भी पायचेमें छिपाकर खेतमें ले गये। वहीं गायोंको नहरके किनारे छोड़कर नहरमें स्नान करके एक बीहड़ कुञ्जमें छिपाकर भगवान्‌का सिंहासन स्थापित किया और उपलब्ध फल-फूलोंसे पूजा करके उन्हें भोग लगाया। फिर माला जपकर गायोंको सम्हाला, किंतु मन भगवान्‌में रहा। इस तरह यही उनका नित्यकर्म हो गया। यों ज्यों-ज्यों भक्तजी कुञ्जमें प्रतिदिन पूजा करते रहे त्यों-त्यों उनका मन अधिकाधिक भगवान्‌की ओर आकर्षित होता गया। अन्तमें गायोंका सम्हालना छूट गया और वे दिनभर कुञ्जमें छिपे भगवत्सेवामें रहने लगे। कभी-कभी तो इतने तल्लीन हो जाते कि गायें घर पहुँच जातीं और वे भजन करते आधी रात बिता देते, जिससे नत्थूरामजी कुपित होते और आपको ढूँढ़कर ले जाते। आपके इस ढंगसे नत्थूरामजी बहुत दुखी हुए और आपको साम, दान, दण्डद्वारा बहुत समझाया; किंतु वे तो 'सूरदासकी कारी कामर चढ़ै न दूजो रंग'के अनुसार भगवद्-रंगमें गहरे रंग गये थे। कब मानने लगे। उनका तो एक मिनट भी भगवान्‌के बिना कटना कठिन हो गया। सुबह भोजन बाँधकर ले जाते; किंतु स्नान, पूजन और भोगमें ही दिन बिता देते। इस तरह शरीर दुर्बल हो गया। अपनी एक-मात्र संतानको इस तरह निकम्मा देखकर कृषिजीवी पिताको कब चैन पड़ती। वे वैद्योंको दिखाकर उनका इलाज करवाने लगे; किंतु वैद्य बेचारे क्या करते, वे तो प्रेमदिवाने थे।

दैवयोग कहिये या भगवत्कृपा, एक दिन भक्तजी सदाकी तरह गाय-भैंसोंको नदीके किनारे चरने छोड़कर पूजा करके माला फेरने लगे। इधर गायें नदीका किनारा छोड़कर खेतोंमें चरने लगीं। खेतवालोंको पहलेसे ही आपसे यह शिकायत थी, इसलिये कुपित होकर वे गायोंको पासके 'कौल' ग्रामके थानेमें जमा करवा आये। साथ ही थानेदारसे आपकी शिकायत भी बड़े जोरसे कर दी गयी।

जब नत्थूरामजीको यह ज्ञात हुआ, तब वे बहुत दुखी हुए और गायोंको थानेसे वापस लानेको थानेमें गये। थानेदारने आपको बहुत खरी-खोटी सुनायी और सौ रुपये जुर्माना जमा करके गायें ले जानेको कहा। जब बहुत समझानेपर भी थानेदार नहीं माना, तब अत्यन्त दुखी होकर वे लौट आये। रास्तेमें ही भक्तजीका कुञ्ज पड़ता था। भक्तजीको ढूँढ़ते हुए जब वे कुञ्जमें पहुँचे, तब क्या देखते हैं सामने बड़े सुन्दर पत्तोंके सिंहासनपर शालग्रामजी विराज रहे हैं। पासमें द्वादशवर्षीय बालक भक्त नन्दरामजी माला लिये ध्यानमग्न हैं। यह देखते ही दुखी ब्राह्मण आगबबूला हो उठे और शालग्रामजी-पर झपटे। पर भक्तवर भला, ठाकुरजीको क्यों छोड़ने लगे! तुरंत ठाकुरजीको उन्होंने अपनी छातीके नीचे छिपा लिया और भक्त प्रह्लादकी तरह पिताजीकी लातें-घूँसे सहते रहे। पिताजीको बड़ा गुस्सा आया और वे कड़ककर बोले कि आज तुम्हारे ठाकुरको मैं नहरमें डुबा दूँगा; किंतु बहुत चेष्टा करनेपर भी वे भक्तसे भगवान्‌को अलग नहीं कर सके। अन्तमें चेतावनी देकर चले गये कि 'सायंकालसे पहले यदि गायोंको वापस न लाये तो मुझे मुँह न दिखाना। मुझे ऐसे काम-चोर, निकम्मे पुत्रकी जरूरत नहीं। पर याद रखना, सायंकालतक गायें नहीं पहुँचीं तो तुम्हें और तुम्हारे ठाकुरको निश्चय ही नहरके पुलके नीचे फेंक दिया जायगा।' यों कहकर घर चले गये।

भोले भक्तजी भी अपने भगवान्‌को बड़ी विपत्तिमें पड़े समझकर भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा करके गायें लाने थानेमें गये; किंतु बहुत अधिक कहा-सुनी करनेपर भी जब मुसलमान थानेदार नहीं माने, तब उन भगवद्-भक्तको भी क्रोध आ [illegible] कि 'तू क्या

चीज है। मेरे भगवान् खुद मुझे गाय लाकर देंगे। मैं तुझे सौ रुपये तो क्या, सौ पैसे भी नहीं दूँगा। तू पछतायगा।' यों कहकर भक्तजी पुनः कुञ्जमें आकर ध्यानस्थ हो गये।

इधर भगवान्के दरबारमें भक्तकी आवाज पहुँची। दम्भी थानेदारके पेटमें अचानक भयंकर शूल हो गया और थानेदार साहब घबराये। डाक्टरोंको भी जवाब देना पड़ा। तब उन्हें दुःखमें भक्तजीकी याद आयी। उधर खिड़कमें सुबहसे गायें बंद थीं, अचानक पहरेदार सिपाहियोंको खिड़कमेंसे वंशी-जैसी सुरीली आवाज सुनायी दी। उन्होंने जब आकर देखा तो गायोंके सामने हरी-हरी घास पड़ी है और वे मजेमें चर रही हैं, घास ताजी लायी हुई है। यह देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ कि बंद खिड़कमें ताजी घास कौन डाल गया और यह वंशीकी आवाज यहाँसे आ रही है! अन्तमें वे बहुत डरकर थानेदारके पास पहुँचे। इधर थानेदार भी उदर-शूलसे परेशान था। तुरंत पेट पकड़े हुए खिड़कके पास आया, दूरसे वंशीकी ध्वनि उसे भी सुनायी दी। पास जाकर देखा तो गायें चर रही हैं और उसका पेट-दर्द भी कुछ कम था। आश्चर्यचकित होकर थानेदारने सिपाहियोंसे कहा—'शामको जो तुलसी-की माला पहने लड़का आया था, वह बहुत चमत्कारिक आदमी जान पड़ता है। वह कोई बड़ा भक्त है। उसने मुझे कहा था कि मेरी गायें भगवान् छुड़ायेगा। तुमको गायें छोड़नी पड़ेंगी और दुःख तुम पाओगे। तभीसे मैं सचमुच दुखी हूँ। अब मेरा पेट कुछ ठीक है। अतः अब उस भक्तकी गायें छोड़ दो।' तुरंत गायें संग्रामपुरकी ओर हाँक दी गयीं।

इधर सायंकाल जब गायें नहीं पहुँचीं, न भक्तजी ही आये, तब उनके पिता नत्थूरामजी चिन्तातुर होकर सौ रुपयेका नोट जेबमें डालकर 'कौल' थानेको चल पड़े। रास्तेमें उन्होंने भक्तजीकी कुञ्जको देखा तो उन्हें वैसे ही ध्यानस्थ देखकर उनको बहुत क्रोध आया। पुनः भक्तजीपर मार पड़ने लगी, पर भक्तने भगवान्को नहीं छोड़ा। उन्होंने भगवान्को छीनकर नहरमें डालनेकी बहुत कोशिश की, परंतु सब व्यर्थ। अन्तमें निराश होकर वे थानेकी ओर चल दिये; किंतु रास्तेमें अंटी सँभाली तो नोट गायब था। अन्तमें दुखी होकर नोट ढूँढ़ते हुए वे पुनः कुञ्जमें आये और भक्ति-मग्न पुत्रको पुनः ध्यानसे देखने लगे। मनुष्य कितना ही नास्तिक और स्वार्थी हो, दुःखमें उसे भगवान्का स्मरण अपने-आप हो जाता है। अतः उनके भी दोनों हाथ स्वतः ही जुड़ गये। पिताजीको भगवान्की ओर विनम्र-भावसे झुकते देखकर भक्तजी हर्षमग्न हो गये और बोले, 'पिताजी! सब कुछ भगवान्पर छोड़ दीजिये। देखिये, सब चिन्ता क्षणमात्रमें दूर हो जायगी। तनिक दुःखमें उस शरणागतभयहारीको पुकारिये तो। देखिये, क्या होता है।' पुत्रकी बातसे पिताकी आँखोंमें आँसू आ गये और बड़े भक्तिभावसे उन्होंने भगवान्को सिर नवाया। सिर नवाते ही उड़कर सिंहासनके नीचे गये हुए नोटको देखा। इधर जब उन्होंने नोट उठाया, उसी क्षण उधर गायोंके गलोंमें बँधी घंटियोंकी आवाज सुनायी दी। साथमें वंशीका मधुर स्वर भी। पिताने तुरंत ध्यानमग्न पुत्रकी ओर देखा। पुत्रने भी पिताको प्रणाम किया और कहा कि 'पिताजी! सब भगवान्की कृपा है। मेरे पहले भगवान् हैं, फिर आप भी भगवान्के समान हैं। अतः सब कुछ छोड़कर आप भगवान्की भक्ति करें।'

अन्तमें पिता-पुत्र दोनोंने मिलकर भगवान्की बड़ी श्रद्धासे पूजा की और उन्हें भोग लगाया। चरणामृत लेकर भगवान्का गुणगान करते हुए गाय-भैंसोंको लेकर दोनों घर आये। फिर उन्होंने भक्तजीको कुछ नहीं कहा। तबसे गाय और भैंसें किसीके खेतमें नहीं गयीं। भक्तजी

पुनः इसी तरह कुञ्जमें तल्लीन रहने लगे। गाँववालोंमें अब भी कई बूढ़े लोगोंके मुँहसे भक्तजीकी कई आश्चर्य-जनक बातें सुनी जाती हैं। उनका कथन है कि हमने स्वयं भक्तजीकी गायोंके पीछे वंशीकी आवाज सुनी है। लोगोंका विश्वास है कि भक्तजीकी गायें खुद भगवान् चराते थे। भगवान्ने सदा भक्तके लिये संकट सहे हैं। यदि उन्होंने भक्तजीके लिये गायें चरायी हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

धन्य है भगवान् और उनके प्रिय भक्तोंको। बोलो भगवान् और उनके प्रिय भक्तकी जय!

सीखनेकी बात

(लेखक—श्रीविजयमुनिजी साहित्यरत्न)

(१)

तीन वणिक्पुत्र

मनुष्य-जीवन पाकर भी जो साधना नहीं कर सका, लाभ नहीं उठा सका, जीवनको उच्चतर एवं सुन्दर नहीं बना सका, उसका जीवन व्यर्थ है, निष्फल है।

एक नगरमें धनवान् वणिक् रहता था। उसके तीन पुत्र थे। वह बुढ़ापेमें जा पहुँचा था। उसने विचार किया—'अपने घरका भार कौन-से पुत्रको सौंपूँ? कौन घरको सँभालकर रख सकता है? मेरे जीवनका अब कोई भरोसा नहीं है।'

चतुर वणिक्ने विचार किया कि इन पुत्रोंकी परीक्षा करनी चाहिये। तीनोंको एक-एक हजार देकर विदा किया और कहा—'विदेशमें जाकर व्यापार करो और फलो-फूलो।' पिताका आशीर्वाद लेकर तीनों तीन दिशाओंमें चल पड़े। दायित्वका भार मनुष्यको चतुर बना देता है।

बड़ा लड़का एक बड़े नगरमें गया। वहाँ सब लोगोंसे प्रेमका व्यवहार रखा। अल्पकालमें ही उसने हजारसे लाख कर लिये।

बीचका लड़का लाभ नहीं कमा सका, वृद्धि नहीं कर सका। परंतु उसने मूल रकम सुरक्षित रखी। न पाया और न खोया।

छोटा लड़का अयोग्य और आलसी था। पड़ा-पड़ा खाता रहा। अल्पकालमें ही दरिद्र हो गया। आय बिनाका व्यय मनुष्यको दरिद्र ही बनाता है।

तीनों लड़के जब पिताके बुलानेपर वापस आये, तब बड़ा प्रसन्न था, बिचला भी खुश था, परंतु छोटा उदास और खिन्न था। चतुर पिताकी आँखोंने सब जान लिया। सबको अलग-अलग एकान्तमें पूछा। सबने अपनी राम-कहानी कह सुनायी। बड़ेने पिताके हाथोंमें लाख दिये। बिचलेने मूल पूँजी लौटा दी और छोटेने लज्जासे सिर नीचे झुका लिया।

पिताने बड़ेको घरका स्वामी बनाया, बिचलेको धनकी रक्षाका भार सौंपा और तीसरेको घरसे बाहर निकाल दिया।

संसारमें जीव भी तीन प्रकारके होते हैं। पुण्य पिताने मनुष्य-भवकी पूँजी सौंपी। एक मनुष्यसे देव बनता है, दूसरा मनुष्यका मनुष्य ही रहता है और तीसरा मनुष्यसे नारकी जीव और पशु बनता है। अपने लक्ष्यपर चलनेवाला कभी दुखी नहीं होता।

(उ० अ० ७ गा० १४, १५ नि० गा० २४७)

(२)

विचारमूढ़

जो मनुष्य अल्प वस्तुके लिये प्रभूत वस्तुका परित्याग करता है, वह विचारमूढ़ होता है।

एक दरिद्र मनुष्य था। विचार किया उसने—देशमें रहनेसे कुछ नहीं मिलता, विदेश चलकर धन कमाना चाहिये। धनकी तृष्णा बड़ी बलवती होती है। वह विदेश गया और वहाँ कठोर श्रम करके एक हजार स्वर्णमुद्राएँ कमाकर वापस लौट रहा था।

मार्गमें एक धर्मशालामें ठहरा। भोजन किया, विश्राम किया। फिर चलनेको तैयार होकर चल भी पड़ा। दो-चार कोस आगे जानेपर उसे ध्यान आया।

मेरी एक कौड़ी गिर पड़ी है या किसीने ले ली है। निश्चय ही मेरा यह नुकसान वहीं हुआ है, जहाँपर भोजन किया था। सावधानी जीवनमें आवश्यक है, परंतु अधिक चातुर्य भी बुरा होता है।

उसने विचार किया—मेरे पास जो धन है, उसे वहाँ ले जानेमें खतरा है। क्यों न उसे यहीं कहीं एकान्तमें गाड़कर अपनी कौड़ी ले आऊँ! उसने एक झाड़ीके पास अपनी हजार स्वर्ण-मुद्राएँ गाड़ दीं और कौड़ी लेने चल पड़ा।

एक चोर छिपा हुआ यह सब देख रहा था। वह ज्यों ही अदृश्य हुआ, त्यों ही चोर मुद्राएँ ले भागा। वहाँ उसे कौड़ी नहीं मिली और इधर भी धन गायब था। अपनी मूर्खतापर रोने लगा। पछतावा करने लगा। मनुष्य भूल करके रोता है, पहले वह सोच नहीं पाता। वह फिर दरिद्र-का-दरिद्र हो गया।

जिस प्रकार उस मूर्खने एक कौड़ीके लिये हजार मुद्राएँ खो दीं, उसी प्रकार मनुष्य विषयोंके लिये अपने अमूल्य मानव-जीवनको खो रहा है।

(उ० अ० ७, नि० गा० २४७)

(३)

काम-कुम्भ

अज्ञानी मनुष्य क्लेश पाता है और ज्ञानी सुखी रहता है। ज्ञानके बिना जीवन सूना है।

जंगलमें एक यक्षायतन था। वहाँ रहकर एक पुरुष यक्षकी भक्ति करता था। प्रसन्न होकर यक्षने उस विद्यावान् पुरुषको काम-कुम्भ दिया। वह प्रसन्न होकर वहाँसे चल पड़ा।

मार्गमें थक जानेसे वह एक वृक्षके नीचे बैठ गया। वहाँपर एक कठियारा भी था। विद्यावान्‌ने अपने काम-कुम्भसे कहा—

'मुझे खानेको भोजन, पीनेको शीतल जल और सोनेको कोमल शय्या लाकर दे।' कहते ही सब तैयार था। कठियाराने सोचा—'यदि इस विद्यावान्‌की सेवा मैं करूँगा तो यह सुख मुझे भी मिल सकता है। सेवामें अपार शक्ति है।' कठियाराकी सेवासे वह विद्यावान् पुरुष प्रसन्न हो गया। बोला—

'तुझे क्या चाहिये? काम-कुम्भ या काम-कुम्भकी विद्या।' कठियाराने सोचा—'विद्या-साधनमें बहुत क्लेश है और अनेक बाधाएँ भी हैं।' उसने काम-कुम्भ ही माँग लिया। मनुष्य शीघ्र ही फलकी अभिलाषा करने लगता है। कठियाराको काम-कुम्भ मिल गया। वह सुखी हो गया। सुख पाकर मनुष्य बेभान हो जाता है।

एक बार सुरा पीकर कठियारा नाचने लगा कि सिरपर रखा काम-कुम्भ गिरकर फूट गया। कठियाराको अत्यन्त पीड़ा हुई। उसने सोचा—

'यदि मैं काम-कुम्भकी विद्या सीख लेता तो इतना दुःख न होता। अब काम-कुम्भ कहाँ मिलेगा?'

जैसे कठियारा विद्यावान् न होनेसे पश्चात्ताप करने लगा था, वैसे ही जो साधक स्वयं अपनी साधनासे ज्ञान प्राप्त नहीं करता, उसका सुख स्थिर नहीं होता और उसे पछताना पड़ता है। (उ० अ० ५, गा० १)

(४)

भिखारीकी माँग

मनुष्य-जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है। धन, जन और वैभवका मिलना सुगम है, परंतु मनुष्य-भव मिलना सरल नहीं है।

एक चक्रवर्तीके द्वारपर एक भिखारी आया। बारह सालके बाद उसे चक्रवर्तीके दर्शन हुए। चक्रवर्तीने उसे देखकर सोचा—यह गरीब है। सहायताकी अभिलाषासे आया है। चक्रवर्तीने पूछा—'क्या चाहता है?' भिखारी बोला—

'मुझे अन्य कुछ भी नहीं चाहिये'। केवल एक व्यवस्था चाहता हूँ। आपके राज्यमें जितने भी नगर हैं, जितने भी ग्राम हैं, उनमें एक-एक घरसे एक-एक दिन मुझे भोजन मिल जाना चाहिये। प्रारम्भ आपके घरसे होगा और जबतक दुबारा आपके घरकी बारी न आ जाय, तबतक यही क्रम चालू रहना चाहिये। इतने विशाल राज्यमें क्या कभी दुबारा बारी आ सकती है?'

चक्रवर्तीने हँसकर कहा—'इतनेसे क्या होगा? तुझे एक देशका राजा ही बना देता हूँ। राज्यसिंहासन-पर बैठकर आनन्द करना।' भिखारीने कहा—'नहीं महाराज! मुझे राज्य नहीं, भोजन ही चाहिये।' चक्रवर्तीने भोजन-व्यवस्था कर दी। वह प्रसन्न हो गया।

पहले दिन चक्रवर्तीके यहाँ भोजन किया। प्रसन्नभाव-से चक्रवर्तीने उसे वस्त्र-युगल और स्वर्णमुद्राएँ भी दीं। नगर और ग्रामके घरोंमें वह भोजन करता रहा। क्या कभी पुनः वह चक्रवर्तीके घर भी पहुँच सकेगा? सम्भव है, कदाचित् पहुँच भी जाय?

परंतु एक बार प्राप्त मनुष्य-जन्म पुनः प्राप्त होना कठिन है। (उ० अ० ३, नि० गा० १५९)

भारतीय नारी

(लेखक—डॉ० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी)

स्त्री और पुरुषकी समानताकी बात करना केवल एक प्रतिक्रिया है। ये वस्तुतः एक दूसरेके पूरक हैं। भारतवर्षके सर्वाधिक प्राचीन धर्मग्रन्थ मनुस्मृतिमें स्पष्ट उल्लेख है—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥
(१। ३२)

अर्थात् उन हिरण्यगर्भने अपने उस शरीरके दो भाग किये, जिसमें आधेसे पुरुष और आधेसे स्त्री बन गया। उस स्त्रीमें ही उसने विराट् पुरुषकी रचना की।

स्पष्ट है कि नारी नरकी पूरक ही नहीं, अपितु उसको जन्म देनेवाली भी है। इस विचारकी पुष्टि हमारे वैवाहिक वेद-मन्त्रोंद्वारा हो जाती है। वहाँ पुरुष-को साम तथा स्त्रीको ऋक् कहकर यह बताया जाता है कि पतिका कर्तव्य पत्नीको सान्त्वना प्रदान करना है; परंतु सान्त्वना देनेकी शक्ति पतिको पत्नीसे ही प्राप्त होती है। सप्तपदीमें पति पत्नीको 'सखा' बनानेकी कामना करता है और धान बोनेवाले लोकाचारके अन्तर्गत पत्नी स्पष्ट कहती है कि 'जबतक चावलके साथ छिलका चिपका है, तभीतक धानका पल्लवित होना सम्भव है।' आकाश और पृथ्वीके मिलनके समान पुरुष और नारीका मिलन भी लोक-कल्याणके लिये ही है।

स्त्रीके दो स्वरूप हैं—माता और कामिनी। प्रथम वन्दनीय है, द्वितीय निन्दनीय। खेदका विषय है कि अधिकांश आधुनिक नारियाँ अपने मातृत्वको छोड़कर कामिनीत्वकी ओर ही अधिक ध्यान देने लगी हैं। कभी वे अविवाहित रहनेकी बात करती हैं और कभी अर्द्धनग्नावस्थामें रखनेवाले वस्त्र पहनकर अधिकतम पुरुषोंको अपनी ओर आकर्षित करनेमें प्रयत्नशील होती हैं। परिणाम सामने है। पुरुषवर्ग उनको केवल विलासकी सामग्री समझने लगा है। स्त्रीका कामिनीत्व रूपी

ही पुरुषके पशुत्वके अधिक अनुकूल पड़ता है; क्योंकि वह अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसको खरीद सकता है। हमारे विचारसे जो पुरुष नारी-स्वातन्त्र्यका ढिंढोरा पीटते हैं, उनमें अधिकांश नारीके कामिनीत्वको ऊपर उठाकर देखनेकी कामना करते हैं। यदि ऐसा नहीं है तो वे अपने हृदयपर हाथ रखकर बतायें कि वे अपने घरमें अपनी बहिन, अपनी माता तथा अपनी पत्नीके प्रति किस प्रकारका व्यवहार करते हैं। यह देखकर हमारे हृदयको मार्मिक वेदना होती है कि आजके कामुकता-गर्भित वातावरणमें 'माताजी' एवं 'बहिनजी' आदि शब्द अपनी स्वाभाविक पवित्रताका परित्याग कर चुके हैं। माता अपनी संतानके प्रति अनन्य प्रेम रखती है। यह प्रेम सर्वथा निःस्वार्थ एवं अक्षय होता है। परमात्मा-के विपुल प्रेमका आभास हमको मातृप्रेममें ही प्राप्त होता है। उस आनन्दसागरके प्रेम-बिन्दुको हम मातृ-हृदयमें प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाते हैं। फलतः माताके स्वरूपकी जितनी वन्दना की जाय, थोड़ी है। यथा—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥
(मनु० २ । १४५)

अर्थात् आचार्य उपाध्यायसे दसगुना, आचार्यसे सौ गुना अपना पिता और पितासे हजार गुनी श्रेष्ठ अपनी माता मानी गयी है। भगवान् श्रीरामने जब अपने वनवासका समाचार माता कौसल्याको सुनाया, तब उन्होंने एक ही उत्तर दिया था—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ॥

भारतकी नारीने माता, कुल-ललना, गृहलक्ष्मी आदि रूपोंमें सुशोभित होना ही अपना सर्वस्व माना है और उसके इस स्वरूपके सम्मुख बड़े-से-बड़े पुरुषको नतमस्तक होना पड़ा है। अपने इस गौरवको अक्षुण्ण रखनेके लिये ही विदूषी महिलाओंने पातिव्रत-धर्मकी व्यवस्था की थी। कितने दुर्भाग्यकी बात है कि माताओंद्वारा व्यवस्थित धर्मको आजकी नारी पुरुषद्वारा नारीके ऊपर लादा जानेवाला बोझा मानने लगी है।

जन्मान्तरका सम्बन्ध, हाथकी पवित्रता, नारीका तपोमय स्वरूप, कन्यादानकी श्रेष्ठता, स्त्रीको प्रसन्न रखने-का यत्न, जाया-पद तथा दम्पतिकी एकरूपता—ये सात भाव सर्वोच्च आदिम-संस्कृतिके अन्तर्गत हैं, जो मानव-जीवनकी पूर्णता और दाम्पत्य-प्रेमकी पवित्रताके द्योतक हैं। उपनिषत्कारने स्पष्ट घोषणा की है कि नारीके दिव्य रूपका दर्शन किये बिना योगी कैवल्य प्राप्त नहीं कर सकता।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
(श्वेताश्वतर० १ । ३)

लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, शक्ति आदिके अतिरिक्त विद्या और भक्ति-रूपोंमें भी नारीकी सत्ता ही विद्यमान है। उसका कामिनीत्व हमें नीचे गिराता है और मातृत्व हमें देवत्वकी ओर उठानेकी क्षमता रखता है। कामिनी अविद्या है और माता विद्या है। आत्म-त्याग मानवताका लक्षण है। मानवको इसकी शिक्षा अपनी माताके अञ्चलमें ही प्राप्त हो सकती है—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग-तल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो जीवनके सुन्दर समतल में ॥

पतिमें प्रभुकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करके नारी अपनत्वका समर्पण कर देती और वह आत्मनिवेदन इतना पूर्ण एवं गम्भीर होता है कि कोई परिस्थिति, यहाँतक कि मृत्यु भी उसे उसकी स्वात्मस्थितिसे च्युत नहीं कर सकती। ऐसे उच्च आदर्शपर सुदृढ़ भारतीय नारीके सम्मुख ब्रह्माण्डकी समस्त शक्तियाँ सदैव निस्तेज एवं निष्प्रभ रही हैं। सावित्री-सदृश सुभार्याके सम्मुख साक्षात् यमराज आज भी पराजित हो जायँगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

शारीरिक कसौटीपर नर और नारीमें मौलिक अन्तर है, परंतु मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियोंसे उनमें कोई अन्तर नहीं है। इस आधारपर कार्य-क्षेत्र विभिन्न होते हुए भी वे समानरूपसे उन्नति एवं विकास करनेके अधिकारी हैं। इस मार्गमें यदि कुछ बाधाएँ आ गयी हैं तो यह हमारी परिस्थितियोंका दोष है और हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें दूर कर दें। परंतु यह कहना कि चूँकि पुरुषवर्ग व्यभिचारी हो गया है, इस लिये स्त्रियोंका कल्याण भी उसी मार्गके अवलम्बनमें है, हमारे विचारसे मानवकी बुद्धि और उससे अधिक नारीके पवित्र नारीत्वका उपहास करना है। हमारी नारियोंको समझ लेना चाहिये कि भारतीय इतिहासको गौरवान्वित करनेवाली नारियाँ—केरलकी तारा, पद्मा, कलावती, दुर्गावती, कर्मदेवी, नीलदेवी, अहल्याबाई, लक्ष्मीबाई आदि—न तो रातको पुरुषोंके साथ नाचनेके लिये जाया करती थीं और न वे घरका काम-काज छोड़कर, अपने पुत्र एवं पतियोंको घरपर बीमार अथवा भूखा छोड़कर, बड़ी-बड़ी सभाओंमें अपने स्वरूपकी झाँकी दिखानेको ही उधार खाये बैठी रहती थीं।

भारतीय नारीका स्वरूप 'श्री' या 'गृहलक्ष्मी' का है। इस स्वरूपकी पूजा करके ही समाज सुखी रह सकता है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
(मनु० ३। ५६)

क्योंकि महर्षि गर्गके मतानुसार—

यद्गृहे रमते नारी लक्ष्मीस्तद्गृहवासिनी।
देवताः कोटिशो वत्स न त्यजन्ति गृहं हि तत्॥

अर्थात् 'जिस घरमें सद्गुणसम्पन्ना नारी सुखपूर्वक निवास करती है, उस घरमें लक्ष्मीजी निवास करती हैं। हे वत्स! करोड़ों देवता भी उस घरको नहीं छोड़ते।'

पुरुषको नारीके प्रति उपेक्षाका भाव छोड़ना होगा और नारीको अपनी हीनत्वभावनाका परित्याग करना होगा। जिस नारीने महिषमर्दिनीके रूपमें असुरोंके गर्वको और उमा हैमवतीके रूपमें देवोंके मोहको चूर्ण किया था, उसी नारीको स्व-स्वरूपका स्मरण करके मानवका कल्याण करनेके लिये आगे आना है।

बड़भागिनी यशोदा

आनँद प्रेम उमंगि जसोदा खरी गुपाल खिलावै।
कबहुँक हिलकै किलकै जननी मन सुख सिंधु बढ़ावै॥
दै करताल बजावति गावति राग अनूप मल्हावै।
कबहुँक पल्लव पानि गहावै, आँगन माझ रिंगावै॥
सिव सनकादि सुकादि ब्रह्मादिक खोजत अंत न पावैं।
गोद लिएँ ताकौं हलरावे, तोतरे बैन बुलावै॥
मोहे सुर नर किंनर मुनिजन, रबि रथ नाहिं चलावै।
मोहि रहीं ब्रजकी जुवती सब, सूरदास जस गावै॥

श्रीरामचरितमानसमें स्वप्नप्रसङ्ग

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी)

निद्रावस्थामें हम सभी स्वप्न देखते हैं। यह एक रहस्यमय विषय है। निद्रित अवस्थामें स्वप्न-परियाँ हमें किसी दूर देशमें ले जाती हैं। इस विचित्र देशकी सारी बातें ही निराली हैं। हमें विचित्र-विचित्र दृश्य दिखायी देते हैं। कभी-कभी हम अपनेको ही रोते हुए, हँसते हुए या गाते हुए देखते हैं। जाग्रत् अवस्थामें आते ही स्वप्न-परियाँ फुर्रसे एकके बाद एक उड़ जाती हैं। हम देखे हुए स्वप्नोंको पूरी तरह याद भी नहीं रख सकते। कुछ ही स्वप्न, जिनका स्पष्ट प्रभाव मनपर पड़ता है, हमें याद रह जाते हैं। हमें प्रतीत तो यह होता है कि हमने सारी रात स्वप्न देखनेमें बितायी है, परंतु वास्तवमें स्वप्न कुछ ही क्षणोंका होता है। अधिकांश स्वप्न निरर्थक और असत्य होते हैं, जैसा कि श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने स्वयं वर्णन किया है—

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

परंतु कुछ स्वप्न आगामी दुःखपूर्ण या सुखपूर्ण प्रसङ्गोंके परिचायक होते हैं और प्रायः भविष्यमें सत्य निकलते हैं। शुद्ध और निर्मल चित्तवाले सज्जनोंके मनमें प्रायः भावी घटनाओंकी प्रतिच्छाया पड़ती है और वे इन घटनाओंके सूचक स्वप्न देखते हैं।

श्रीरामचरितमानसमें वर्णित स्वप्न इसी कोटिके हैं।

× × × ×

सर्वप्रथम शिव-पार्वतीके विवाह-प्रसङ्गमें माता पार्वतीद्वारा स्वप्न देखे जानेका वर्णन है। दक्षकन्या सती अपने पति शिवकी आज्ञा न मानकर पिताके यज्ञमें भाग लेने गयीं। वहाँ शिवका अपमान देखकर उन्होंने योगाग्निद्वारा शरीरका परित्याग कर दिया। भगवान् शिव एकाकी रह [illegible] प्राणेश्वर शिवसे पुनर्मिलनके लिये पर्वतराज हिमाचलके गृहमें पार्वती-रूपसे अवतार ग्रहण किया। प्रभुकी इच्छावश देवर्षि नारद हिमाचलके यहाँ गये। पार्वतीके भविष्य-वर्णनके साथ ही उन्होंने उमा-महेश्वरके भविष्य सुखद मिलनका भी संकेत किया। साथ ही अपने स्वभावके अनुरूप शिवके अशिव वेषका अतिरञ्जित वर्णन उन्होंने किया। पुत्रीके अमङ्गलकी कल्पनासे शङ्कित होकर हिमाचल-पत्नी मैना गिरिजाको समझाने लगी। जगज्जननी गौरीने माताके बोधके हेतु अपनेद्वारा देखे हुए स्वप्नका वर्णन करके उनके मनका क्षोभ दूर किया और उसीके अनुसार वे तपमें प्रवृत्त हुईं। गोस्वामीजीने लिखा है—

बारहिं बार लेति उर लाई। गदगद कंठ न कछु कहि जाई॥
जगत मातु सर्बग्य भवानी। मातु सुखद बोलीं मृदु बानी॥

सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावउँ तोहि।
सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि॥

करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी॥
मातु पितहि पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा॥
तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिष्नु सकल जग त्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरइ महिभारा॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जियँ जानी॥
सुनत बचन बिस्मित महतारी। सपन सुनायहु गिरिहि हँकारी॥
मातु पितहि बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप हित हरषाई॥
प्रिय परिवार पिता अरु माता। भए बिकल मुख आव न बाता॥

बेदसिरा मुनि आइ तब सबहि कहा समुझाइ।
पारबती महिमा सुनत रहे प्रबोधहि पाइ॥

यह स्वप्न भविष्यमें सत्य निकला। गिरिकन्या पार्वतीके घोर तपने शम्भुके आसनको हिला दिया। हिमकन्याकी दृढ़ प्रीतिके फलस्वरूप श्रीशंकर और पार्वतीका पुनर्मिलन हुआ।

× × × ×

दूसरे स्वप्नप्रसङ्गमें कैकेयीद्वारा स्वप्न देखे जानेका

विवरण है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कैकेयीका स्वप्न सत्य तो अवश्य हुआ परंतु विकारयुक्त मानसवाली होनेके कारण वह उस स्वप्नका आशय गलत समझी। स्वप्न वास्तवमें उसके पति राजा दशरथकी मृत्यु, प्रियपुत्र भरतका क्षोभ और पुरवासियोंकी उसके प्रति घृणाका परिचायक था। श्रीमद्गोस्वामीजी कैकेयीके मुखसे मन्थराके प्रति कहलाते हैं—

फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली॥
सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकति मोरी॥
दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने॥
काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥

× × × ×

इसीके साथ-साथ कैकेयीनन्दन भरतने अपने मामाके यहाँ निवास करते हुए दुःस्वप्नोंका अवलोकन किया। वे शुद्ध और निर्मल हृदयके महात्मा पुरुष थे। अतएव वे उनका मतलब समझ सके। साथ ही उनके निवारणार्थ उन्होंने प्रयत्न भी किया। यह प्रसङ्ग बड़ा करुण है। भरतजीके जीवन-सर्वस्व भगवान् श्रीराम जगज्जननी सीता और प्रिय भ्राता लक्ष्मणसहित पिताके आज्ञा-पालन हेतु वनको चले जाते हैं। अयोध्यामें महान् शोक छाया हुआ है। श्रीरामकी विरह-ज्वालामें दग्ध होकर महाराज दशरथ प्राणत्याग कर देते हैं। इस दुर्घटनाकी प्रतिच्छाया भरतजीको, जो अयोध्यासे सहस्रों योजन दूर केकय देशमें अपने ननिहालमें हैं, नित्यप्रति स्वप्नमें दीखती है। जबसे इस दुर्घटनाका सूत्रपात हुआ है, तभीसे उन्हें भयंकर स्वप्न आने लगते हैं। उनका साधु-हृदय शङ्कित हो उठता है। दुःस्वप्नके परिहार हेतु वे नित्यप्रति शिवार्चन और दान-पुण्य करते हैं। मानसकारने इस प्रसङ्गको निम्नलिखित प्रकारसे वर्णन किया है—

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥
बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥
एहि बिधि सोचत भरत मन धावन पहुँचे आइ।
गुरु अनुसासन श्रवन सुनि चले गनेसु मनाइ॥

इसके पश्चात् हुई घटनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि श्रीभरतजीका स्वप्न बिलकुल सत्य था।

× × × ×

इसके अनन्तर जगज्जननी सीताजीने स्वप्न देखा। भरतजी ननिहालसे अयोध्या पधारे। अपने प्राणधन श्रीरामके वनगमनका समाचार सुन उनके हृदयपर वज्रपात हुआ। प्रिय भ्राताका वनगमन और पिताका मरण केवल उनके कारण हुआ, इसकी कल्पना करके उनका हृदय रो उठा। वे साधुपुरुष तुरंत ही मन्त्रणा करके श्रीरामको लौटा लानेके उद्देश्यसे चित्रकूटकी ओर चल पड़े। भगवान् राम उस समय चित्रकूटमें पर्णकुटी बनाकर निवास कर रहे थे। भरतजीके आगमनकी घटनाको सीताजीने अपने स्वप्नमें देखा। भगवान् श्रीरामचन्द्रसे उन्होंने उसका वर्णन भी कर दिया। इसका तुलसीदासजीने निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे सीयँ सपन अस देखा॥
सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए॥
सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखीं सासु आन अनुहारी॥
सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भए सोचबस सोच बिमोचन॥
लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई॥
अस कहि बंधु समेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने॥

यह दुर्घटना, जिसकी छाया सीताजीने स्वप्नमें देखी; श्रीराम-भरतादिके आगामी मिलापकी परिचायक थी। इस समयतक महाराज दशरथ परलोक सिधार चुके थे, परंतु श्रीराम इत्यादिको इसका पता नहीं था। अतः जब सीताजीने महाराज दशरथकी पत्नियों अर्थात् अपनी सासोंको मलिन-मन, दुखी तथा और ही प्रकारकी अर्थात् विधवा-वेषमें देखनेका हाल श्रीरामसे कहा, तब उन्होंने पिताके अमङ्गलकी आशङ्कासे सोच किया। उनके नेत्र [illegible]। धर्मशास्त्रमें

दुःस्वप्नोंके परिहार-हेतु उल्लिखित विधिद्वारा उन्होंने इस स्वप्नका परिहार करना चाहा । तदनुसार—

अस कहि बंधु समेत नहाने । पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥

अर्थात् भाई-समेत स्नानकर शिवपूजन किया और साधु पुरुषोंका सम्मान किया । यह घटना, जो सीताजीने देखी थी, श्रीभरतजीके स्वप्नकी ही भाँति भूतकालमें घटित हो चुकी थी । महाराज दशरथकी पत्नियाँ काफी समय पूर्व पतिका निधन हो जानेसे मलिन-मन, दुखी और विधवा हो चुकी थीं । केवल भरतमिलापकी घटना स्वप्न देखे जानेके कुछ काल बाद ही घटित हुई ।

× × × ×

अन्तिम स्वप्न-प्रसङ्गमें राक्षसी त्रिजटाद्वारा स्वप्न देखे जानेका विविध विवरण मिलता है । त्रिजटा लङ्कामें निवास करनेवाली रावणकी दासी थी । पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण वह भले विचारोंकी थी । श्रीराम-जानकीके चरणोंमें उसका स्वाभाविक स्नेह था । यही कारण है कि उसका देखा हुआ स्वप्न भी शत-प्रति-शत सत्य हुआ ।

जब दशानन रावण सीताको साम और दानकी नीतिसे समझाकर हार गया, तब उसने तीसरी (दण्डकी) नीतिका आश्रय लेना चाहा । भयंकर तलवार निकालकर वह सीताको मारने दौड़ा । उस समय राजमहिषी मन्दोदरीने उसके चरण पकड़कर विविध प्रकारसे समझा-बुझाकर उसका रोष शान्त किया । रानीके बाधा देने-पर रावणने सीताका प्राणवध तो नहीं किया, परंतु बहुत सी दुष्टा राक्षसियोंको बुलाकर उन्हें सीताको त्रास देनेकी आज्ञा दे दी । वे मायाविनी निशाचरियाँ जगन्माता सीताकी महिमा न जानते हुए उन्हें विविध प्रकारके मायामय भयंकररूप दिखाकर डराने लगीं । सीता भयसे विह्वल हो गयीं । त्रिजटाने यह दशा देख-कर सीताके दुःखका निवारण करनेके हेतु अपना स्वप्न राक्षसियोंको सुनाया । गोस्वामीजी लिखते हैं—

त्रिजटा नाम राच्छसी एका । रामचरन रति निपुन बिबेका ॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना । सीतहि सेइ करहु हित अपना ॥
सपनें बानर लंका जारी । जातुधान सेना सब मारी ॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा । मुंडित सिर खंडित भुज बीसा ॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई । लंका मनहुँ बिभीषन पाई ॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई । तब प्रभु सीता बोलि पठाई ॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी । होइहि सत्य गएँ दिन चारी ।
तासु बचन सुनि ते सब डरीं । जनकसुता के चरनन्हि परीं ॥

स्वप्न-सम्बन्धी फलादेश बतानेवाली पुस्तकोंमें ऐसे स्वप्नका विवरण और फल निम्नलिखित रूपसे लिखा है—

स्वप्नेषु नग्नान् मुण्डांश्च रक्तकृष्णाम्बरावृतान् ।
व्यङ्गांश्च विकृतान् कृष्णान् सपाशान् सायुधानपि ॥
स स्वस्थो लभते व्याधिं रोगी यास्येव पञ्चताम् ।

जो पुरुष अथवा स्त्री स्वप्नमें विकृत-अङ्ग, विकृत-वेश, मुण्डित, लाल अथवा काला वस्त्र पहने हुए अथवा नग्न होकर दक्षिण दिशा अर्थात् यमराजकी दिशाकी ओर जाती दिखायी देती है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है ।

त्रिजटाने उन राक्षसियोंको इस प्रकार भयभीतकर सीताको त्रास देनेसे निवृत्त किया । त्रिजटाके स्वप्न और पूर्वलिखित स्वप्नोंमें अन्तर यह है कि पहले दोनों स्वप्नोंमें प्रायः ऐसी घटनाओंकी प्रतिच्छाया थी, जो घटित हो चुकी थीं, जब कि त्रिजटाद्वारा भविष्यमें घटित होनेवाली घटनाओंका वर्णन किया गया है ।

× × × ×

उपर्युक्त सभी स्वप्न सर्वथा सत्य और आगामी घटनाओंके परिचायक सिद्ध होते हैं ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आपका पत्र मिला, उत्तर इस प्रकार है—

१—गोस्वामीजी श्रीतुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें—

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥

—यह लिखा है तथा फिर—

मंत्र महामनि विषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥

ये दोनों ही ठीक हैं। ऊपरके दोहेका भावार्थ यह है कि विधाताने जो कुछ ललाटमें लिख दिया है, उसको देवता, राक्षस, मनुष्य, नाग और मुनि—कोई भी नहीं मेट सकते। चौपाईमें दोहेमें कही गयी बातका विरोध नहीं किया गया है; भगवान्‌के नाम जपसे विधाताके लेखको बदलनेकी बात कही गयी है, जो ठीक ही है। भगवन्नामके जपसे तो सब कुछ हो सकता है; किंतु ऊपर बतलाये हुए प्राणियोंकी सामर्थ्य नहीं है कि वे विधाताके लेखको मिटा सकें।

२—पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना॥

इस चौपाईमें गोस्वामीजीने ब्राह्मणोंका पक्षपात किया हो, ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये। ब्राह्मण-जातिका महत्त्व जनानेके लिये ही गोस्वामीजीने यह बात कही है। शील-गुण-हीन ब्राह्मण जन्मसे ब्राह्मण होनेके कारण पूजनीय है, जातिकी दृष्टिसे शूद्र पूजनीय नहीं है—यहाँ जातिका महत्त्व समझाया गया है। जातिके कारण इतना अन्तर होनेपर भी मुक्तिके लिये गुण ही प्रधान हैं और मूल्यवान् वस्तु मुक्ति ही है। मुक्ति तो गुण, ज्ञान और आचरणसे होती है, न कि जातिसे—भले ही कोई ब्राह्मण हो अथवा शूद्र ही क्यों न हो।

और—

३—'बिना प्रेम रीझै नहीं नागर नंद किसोर।'

'तुलसी अपने रामको रीझ भजो या खीझ।
खेत पड़े सो जामिहैं उल्टो सीधो बीज॥'

तथा—

'भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'

—इन दोहे-चौपाइयोंमें वास्तवमें कोई परस्पर विरोध नहीं है, दोनों ही ठीक हैं। बिना प्रेमके भगवान् जल्दी नहीं रीझते; उनके नामको चाहे जैसे भी लिया जाय, वह व्यर्थ नहीं जाता, उसका फल अवश्य होता है; किंतु साथमें प्रेम होनेसे भगवान् शीघ्र मिल सकते हैं—यह भाव इनका समझना चाहिये।

४—गीता ३। ३५ में भगवान् श्रीकृष्णने स्व[illegible] धर्मपर दृढ़ रहनेके लिये बहुत जोरके साथ कहा है सो ठीक है। वहीं १८। ६६ में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' कहकर उपर्युक्त श्लोकका विरुद्ध वचनके द्वारा खण्डन किया हो ऐसी बात नहीं है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—कहकर भगवान्‌ने यह कहा है कि 'सब धर्मोंको मुझमें छोड़कर यानी मुझमें समर्पण करके मेरी शरणमें आ जा।' सब कर्मोंको स्वरूपसे त्यागनेकी बात भगवान्‌ने यहाँ नहीं कही है। धर्मपर दृढ़ रहनेके लिये जिन्होंने जगह जगह बहुत जोर देकर कहा है, वे स्वरूपसे धर्मोंके त्यागनेकी बात कैसे कहते। ३। ३५ के सिवा १६। २४ में भी भगवान्‌ने शास्त्रोक्त कर्म करनेपर बहुत जोर दिया है। इससे उपर्युक्त श्लोकमें सब धर्मोंके स्वरूपसे त्यागनेकी बात नहीं समझनी चाहिये। सब धर्मोंको समर्पण करना ही भगवान्‌को मान्य है; क्योंकि भगवान्‌ने १८। ५७ में स्पष्ट कहा है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।

अर्थात् मनसे सब कर्मोंको मुझमें समर्पण कर दे और मेरी शरणमें आ जा। यही बात उस श्लोकमें भी कही गयी है। वहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' है, यहाँ 'चेतसा सर्वकर्माणि मयि [illegible]' है। केवल शब्दोंका अन्तर है, भाव एक ही है। [illegible] पहले कह दी गयी किंतु बादमें नहीं है, उसको पूर्व प्रसङ्गसे अध्याहार कर लेना चाहिये—यह शास्त्रकी नीति है। 'सर्वधर्म' और 'सर्वशास्त्रविहित कर्म' का अर्थ एक ही है। तथा 'मामेकं शरणं व्रज' और 'मत्परः' ये दोनों शरणागतिके ही द्योतक हैं। भगवान्‌ने ६४ वें श्लोकमें पहलेकी कही हुई बातको दुहरानेकी बात कहकर ९। ३४ में कही हुई बात ६५ वेंमें और १८। ५७ की बात ६६ के पूर्वार्द्धमें कही है। प्रसङ्गको देखनेसे सब बातें आपकी समझमें आ सकती हैं।

५—धार्मिक पुस्तकोंके स्वाध्यायमें आपकी रुचि है, सो बहुत ठीक है। इसमें मन रम जानेके कारण आफिसका काम न होनेसे अफसर लोग नाराज होते हैं, सो ज्ञात किया। अफसर लोगोंको नाराज नहीं करना चाहिये। ८ घंटे कामकी पूरी ड्यूटी देनी चाहिये। उसके अतिरिक्त १६ घंटोंमें ६ घंटे शयन तथा दो घंटे शौच-स्नान-भोजन आदिमें लगाने चाहिये। शेष ८ घंटे स्वाध्याय करना चाहिये। नौकरी छोड़नेसे आजीविका चलनी कठिन लिखी सो नौकरी तो कभी नहीं छोड़नी चाहिये। आपकी आकाङ्क्षा बहुत बड़ा विद्वान् बननेकी है, [illegible] इसकी

पूर्तिमें बड़ी सहायक है, इस इच्छाकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिये।

हमें देखनेकी प्रबल इच्छा लिखी सो आपके प्रेम और भावकी बात है। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ, हमलोग चैत्रसे आषाढ़तक ऋषिकेश रहा करते हैं। एक मासकी छुट्टी लेकर वहाँ आकर रह सकते हैं।

(२)

आपका पत्र मिला। आपने हमें भगवत्प्राप्त ज्ञानी महात्मा लिखा सो इस प्रकार प्रशंसाके शब्द लिखकर संकोचमें नहीं डालना चाहिये। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ। प्रशंसाके योग्य तो भगवान् ही हैं, अतः उन्हींकी प्रशंसा करनी चाहिये।

आपके प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकार हैं—

१—विषय-भोगोंमें सुख नहीं है, उनमें सुखका भ्रममात्र ही है—इतना मानते हुए भी जो मन विषयोंमें लिपटा रहता है, इसका कारण यही है कि हमने उपर्युक्त बातको सुनकर किसी अंशमें ही माना है, उसे पूरी तरहसे समझा नहीं। समझनेके बाद तो विषयोंमें आसक्ति रह नहीं सकती। विषयोंमें जो क्षणिक सुख दीखता है, उसीको हम सच्चा सुख मान बैठे हैं। जिस प्रकार किसीको दिग्भ्रम हो जाता है तो उसे पूर्व-दिशा पश्चिम-दिशा प्रतीत होने लगती है, वास्तविक दिशाका उसे जल्दी ज्ञान नहीं होता, वैसी ही बात यहाँ भी समझनी चाहिये। झूठे सुखको सच्चा समझ लेनेके कारण ही मनुष्य उसमें फँसा हुआ है। इसके विषयमें युक्ति और शास्त्र प्रमाण हैं। भगवान्में जितना सुख है, उतना सुख और कहीं भी नहीं है; संसारमें हमें जो सुख प्रतीत होता है, वह सारा मिलकर भी भगवान्‌रूपी सुखसागरकी बूँदके प्रतिबिम्ब-तुल्य भी नहीं है—इस बातको समझ लेनेपर जब संसारसे वैराग्य हो जाता है, तभी भगवान्में प्रेम हो सकता है। संसार दुःखरूप और विनाशशील है। सांसारिक विषय-भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं, दुःख-ही-दुःख भरा है—विचारद्वारा यह बात मनको समझानी चाहिये। यह बात भगवान्ने गीता ५। २२ में कही है। भगवान्के शरण होकर गीता ९। ३४ एवं १०। ९ के अनुसार साधन करना चाहिये। इससे मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है।

२—वीर्यकी कमीसे ही स्मरण-शक्तिकी कमी होती है। स्मरण-शक्तिको बढ़ानेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। ब्राह्मी घृतका प्रयोग भी इसके लिये लाभदायक है। सांसारिक बातोंको तो अन्ततोगत्वा भुलाना ही है; परमात्मविषयक जिन बातोंको याद रखना है, उनको याद रखनेके उद्देश्यसे ही पढ़ना चाहिये और उनका मनन क[illegible] सहपाठियोंके साथ उत्तर-प्रति-उत्तर करके समझना चाहिये। ऐसी चेष्टा करनेसे बातें अधिक याद रह सकती हैं।

३—बुरे संकल्पोंके कारण ही रात्रिमें स्वप्नदोष हुआ करता है। इसके लिये रात्रिमें सोते समय भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यकी बातोंको याद करते हुए एवं जप-ध्यान करते हुए ही शयन करना चाहिये। गर्म और गरिष्ठ पदार्थ नहीं खाने चाहिये। दूध भी विशेष गर्म नहीं पीना चाहिये। इस रोगको मिटानेके लिये सोनेके समय दो रत्ती बंग-भस्म आधा तोला शहदके साथ लेकर ऊपरसे डेढ़ पाव दूध पी लेना चाहिये। इससे लाभ हो सकता है। स्वप्नदोषके लिये प्रायश्चित्त यही है कि स्त्रियों तथा युवा बालक-बालिकाओंसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध ही न रखे।

४—गीतामें बताये हुए सात्त्विक लक्षणोंके अनुसार आप जीवन बिताना चाहते हैं सो बहुत अच्छी बात है; इसके लिये मनमें खूब दृढ़ संकल्प रखना चाहिये और भगवान्के शरण होकर उनके आगे करुणाभावसे गद्गद होकर रोते हुए स्तुति एवं प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। गीतामें सात्त्विक आचरण, गुण और लक्षणोंकी बात जगह-जगह बतायी गयी है—उदाहरणके लिये देखिये गीता १३। ७–११; १६। १–३; १७।१४–१७; १८। ५१–५५ आदि-आदि। इन श्लोकोंका भाव गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें पढ़कर समझ सकते हैं। उस टीकाका मूल्य ४) है। आपके पास न हो तो गीताप्रेस (गोरखपुर) से मँगवा सकते हैं। गीतामय जीवन बनानेके लिये पहले गीताको समझना चाहिये। फिर उसके अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

५—निष्काम कर्म, भगवान्के नामका जप तथा स्वरूपका ध्यान और ज्ञान—इन तीनोंमेंसे किसी एक साधनसे मन शुद्ध हो सकता है। गीता ५। ११ एवं ४। २३ में निष्कामकर्मसे, ९। ३०-३१ में भगवान्के जप-ध्यानसे तथा ४। ३६-३७ में ज्ञानसे मन शुद्ध होनेकी बात कही गयी है। इन स्थलोंको गीतामें देखकर आप अच्छी प्रकार समझ सकते हैं।

६—आपने अपनी दिनचर्या पूछी सो पहले अपनी वर्तमान दिनचर्या लिखनी चाहिये; फिर उसमें कोई सुधार आवश्यक होगा तो लिखा जा सकता है।

७—आप अपने मनकी बात कहने और दूसरेके मनकी बात सुननेके लिये मित्र बनाना चाहते हैं सो ठीक है। सबसे बढ़कर तो भगवान्को ही अपना मित्र बनाना चाहिये। दूसरी श्रेणीमें हमें अथवा चाहे जिसको मित्र बना सकते हैं। किसीको [illegible] काम करते देखकर आप मना करते हैं सो अच्छी

बात है। यदि कोई आपकी बात न माने तो आपको रुष्ट नहीं होना चाहिये। कोई आपकी बात न माने तो इसमें आपकी कोई हानि नहीं है।

८–भगवान्को तैलधारावत् भजनेकी बात गीता ८। १४ में देखनी चाहिये और अनन्यभावसे भजनेकी बात ९। २२ में कही गयी है, आप देख सकते हैं।

एक पैशाचिक उत्पात

सहायताकी प्रार्थना

इस उत्पातका किंचित् स्पष्ट आभास मुझे लखनऊमें रहते जनवरी १९३४ ई० में हुआ था। परंतु बादमें इन उपद्रवोंसे मुझे जो अनुभव हुए, उनसे अब स्मरण आता है कि कुछ वैसी ही घटनाएँ १९२५ ई० में नैनीतालमें भी हुई थीं; परंतु वह प्रारम्भावस्था होनेसे उधर ध्यान अत्यल्प ही गया। तब मेरा स्वास्थ्य सब प्रकार अत्युत्तम—सर्वाङ्गीण था, पूर्ण युवावस्था थी और स्वास्थ्य अच्छा होनेसे ही मैं अबतक, जब कि मेरी आयु ५५ वर्षकी है, इन उपद्रवोंका सामना करनेमें समर्थ रहा हूँ। ये उपद्रव विदित होता है सन् १९२५ ई० से ही चले, १९४२ ई० तक धीरे-धीरे बढ़ते रहे और उस वर्ष अचानक बड़े तीव्र वेग तथा उग्र रूपसे बढ़ने लगे और चौबीसों घंटे होने लगे। इन उपद्रवोंमें अब मुसल्मान गुंडे प्रकट रूपमें आये और तभीसे मेरे कार्यालयमें और सड़कोंपर, निवास-स्थानके निकट—जहाँ भी मैं जाऊँ, मेरे पीछे पड़े रहते हैं। परिणामस्वरूप अत्यन्त स्नायविक (Nervous) तनाव और मानसिक परीशानियाँ तथा उलझनें होनी ही थीं। उच्च पुलिस अधिकारियों और गुप्तचर विभागकी पुलिस-की सहायता भी, जो उस समयके गृहमन्त्री स्वर्गीय रफी अहमद किदवईकी कृपासे प्राप्त हुई थी, निष्फल रही; क्योंकि सुसंगठित गुंडोंकी करतूतोंसे उनको सदा यह रिपोर्ट मिलती रही कि कुछ वर्षोंसे मेरी मानसिक स्थिति विक्षिप्त-सी है। दिसम्बर १९४४ ई० से मैंने बहुत-से जप, अनुष्ठान स्वयं किये तथा करवाये। मैंने और मेरे मित्रों तथा हितैषियोंने स्थानीय तथा कानपुर, वाराणसी और दिल्लीके पण्डितों, मौलवियों और तान्त्रिकोंसे बातचीत की। प्र[illegible] प्रयत्न अबतक पूर्णरूपेण असफल ही रहे और मूल उत्पात या तो पहलेकी ही तरह रहा है अथवा सुशिक्षित, अनुभवी और विज्ञ तान्त्रिकोंद्वारा पूर्णरूपसे शमन हो जानेके उपरान्त शीघ्र ही पूर्ण वेगसे पुनरुज्जीवित हो उठा। फलस्वरूप मुसल्मान गुंडे और उनके सहचर अत्यन्त मुदित और उत्साहित हो गये और तज्जनित उत्पात दिनोदिन वृद्धिंगत होता गया—यहाँतक कि, शिक्षित या अशिक्षित दोनों प्रकारके स्त्री-पुरुष, चाहे वे हिंदू हों या मुसल्मान-ईसाई, युवा या वृद्ध, पुलिसके सिपाही, शासक (Officers), विधानसभाके सदस्य, कार्यालयके बाबू या निम्नवर्गीय कर्मचारी या पड़ोसी भी उन इस्लामी दुरात्माओंके प्रभावमें आकर बड़े उत्साहसे निर्लज्जतापूर्वक इस उत्पातमें भाग लेकर आनन्दका अनुभव करते हैं। इन सब उत्पातोंके होने-पर भी मैं जीवित हूँ और चित्तवृत्ति स्वस्थ है। मैं अपने सभी सांसारिक तथा पारमार्थिक कार्य पूर्णरूपसे निभाता आ रहा हूँ, यद्यपि मेरे बाह्य स्वातन्त्र्यमें वर्षोंसे अतीव तथा अविराम गतिसे बाधा उत्पन्न हो गयी है। इससे सांसारिक या बाह्य जीवनकी सीमा अत्यन्त संकुचित हो गयी है। इसने मुझे वस्तुतः शारीरिक, सामाजिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टिसे एक प्रकारसे मृतप्राय-सा बना रखा है। मेरे नैसर्गिक जीवनमें इतनी रुकावट आ गयी है कि मेरी स्वाभाविक योग्यता तथा क्षमताका पूर्ण विकास ही अवरुद्ध हो गया है। इस प्रकार दबा, कुचला और मुरझाया जीवन लगभग यन्त्रवत्—कोल्हूके बैलका-सा हो गया है। १९३०— [illegible]के तीन बार गर्भपात [illegible] हुई, यद्यपि डाक्टरों-त्वर[illegible]

ने हम दोनोंको पूर्णरूपेण स्वस्थ बताया है। कुछ सज्जनोंने इसका नैमित्तिक कारण इसी विचित्र उत्पातको बताया है, जिसने मेरे अन्तर्गत अत्यधिक स्नायविक शोषण तथा तनाव उत्पन्न कर दिया है और स्नायुमण्डल ही मनुष्यशरीरका विधाता है। पीड़ा निरन्तर होनेसे अर्थात् सभी ऋतुओं और सभी प्रकारके जलवायुमें चौबीसों घंटे होते रहनेसे तथा पूर्णतया मानसिक होनेके कारण अत्यन्त तीव्र और कष्टदायक हो रही है।

इसका यथार्थरूप—मैंने विचारपूर्वक प्रथम इस उत्पातकी गति तथा प्रभावका वर्णन किया है। अब मैं इसके यथार्थरूपका वर्णन करता हूँ, जिससे उत्पातकी उत्पत्ति हुई है। इस भूमण्डलमें जहाँ कहीं या जब कभी भी मैं जाता हूँ एक मानवाकार आकृति और एक मानव-ध्वनि कुछ दूरीसे सदा मेरा पीछा करती है, सामने कभी नहीं आती। वह आकृति अत्यन्त अपवादजनक दूषित अश्लील कुत्सित बीभत्सरसोत्पादक नारों (Slogans) का प्रयोग करती है। साधारणतया यह आकृति केवल मुझे १९३४ ई० से ही दिखायी देती रही है; परंतु उसमें यह शक्ति है कि चाहे तो किसीको भी दिखायी दे सकती है तथा वह लोगोंको प्रभावित करके उनसे भी अपने-जैसे ही अपशब्द कहलवाती है। यह आकृति प्रायः छः फुट ऊँची है, और उसका आकार २७-२८ वर्षकी आयुके सम्पूर्ण पुरुषका है। उसका वर्ण वर्षाकालीन मेघ-सा काला है और उसकी त्वचा चुपड़ी और चमकीली है। देखनेमें वह सुडौल है, कभी अर्धनग्न और कभी बार-बार नाना प्रकारके वस्त्र बदलते हुए, परंतु सदा नंगे पाँव, कोई भी अङ्ग-उपाङ्ग विकृत नहीं, सिर कभी घुटा हुआ, कभी तैलयुक्त कंघीसे सँवारे बालोंयुक्त दीखता है। वह अंग्रेजी, हिंदुस्तानी और कुमाऊँनी भाषामें पुकारता और उसके शब्द तथा वाक्य इतने स्पष्ट होते हैं कि उनमें, उनको याद रखनेके [illegible] अभिव्यक्ति होती [illegible]

उपहास, अट्टहास आदि। स्वर कभी हल्का और कभी उच्च। भीड़-भाड़वाले और सार्वजनिक स्थानोंमें वे मेरे संनिकट सुनायी देते हैं; परंतु मेरे निवासस्थान, कार्यालय और एकान्त स्थानोंमें दूरसे आते हैं। विगत छः वर्षोंसे यह आकृति प्रायः अदृश्य-सी रहती है, केवल दस-बारह बार दृग्गोचर हुई है; परंतु इसका स्वर सदा उसी प्रकार सुनायी देता रहा है और कभी-कभी इस स्वरके साथ एक वास्तविक मनुष्यका स्वर भी रहता है, जो सबको सुनायी देता है। संतों, पण्डितों, मौलवियोंने इस आकृतिको एक दुष्ट प्रेत या ब्रह्मराक्षस या जिन्न बताया है और कहा है कि उसको किसीने दुष्प्रयोजन-सिद्धिके लिये पकड़ रखा है और उसे कोई मनुष्य (जिसे मैं तो दानव या राक्षस ही कहूँगा) अभिचार (काला जादू) द्वारा चलाता जा रहा है। जब कभी मैं पहाड़ोंपर लंबी छुट्टीपर गया हूँ, यह मानवरूपी राक्षस अपने एक रक्षक साथीको लेकर वहाँ भी पहुँचा; परंतु वह अपने अङ्गरक्षककी सक्रिय सहायतासे स्पष्ट ही अत्यन्त सावधान—चौकन्ना रहकर छलना करता रहा है, जिससे मेरे सहायक उसे पकड़ ही न सकें।

ऐसे उत्पातसे पीड़ित व्यक्तिकी यथार्थ दशा या स्थितिकी कल्पना ही की जा सकती है। उसका वर्णन क्या हो सकता है। संक्षेपमें, मानो वह निरन्तर ही तीक्ष्ण काँटोंके ऊपर चल रहा हो। केवल परमात्मापर अटल श्रद्धा-विश्वास और उसकी अनुकम्पासे ही यह व्यक्ति अपने जीवन-यापनमें समर्थ है और अपने अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण पदका कार्य, जिसका वेतन सात सौ रुपया प्रतिमाससे अधिक है और जिसमें उसके अधीन कभी-कभी प्रतिदिन बावन कर्मचारीतक एक साथ कार्य करते रहे हैं, निभाता आ रहा है। वह 'कल्याण'-परिवारमें गत १७ वर्षोंसे सम्मिलित है तथा उसके सभी पाठकोंसे विनीत निवेदन तथा अभ्यर्थना करता है कि वे [illegible]यता करनेको तत्पर हो जायँ। जो भी सुयोग्य [illegible] पैशाचिक कृत्यको आमूल नष्ट कर सके, जो

जितने भी मानव, पिशाच या दानव (?) इस कार्यके पोषक या सहायक हों, सबका मूलोच्छेद कर सके, ऐसे परोपकारी सुयोग्य व्यक्तिसे सम्बन्ध स्थापित करा दें। 'कल्याण' के अगणित सुयोग्य मन्त्रज्ञ या तन्त्र-विशारद विद्वान् लेखक और पाठक होंगे। मुझे पूर्ण आशा है कि मेरा इस भयंकर विपत्तिसे शीघ्रातिशीघ्र छुटकारा अवश्य होगा; क्योंकि परमात्माकी सृष्टिमें जब प्रयत्नसे पुनर्जन्म तक नष्ट हो जाता है, तब सुज्ञ पुरुषके लिये यह छुटकारा दिलाना असम्भव नहीं। यदि ऐसे पर-पीड़ा-तुमवी, सहानुभूतियुक्त, आत्मविश्वासी पुरुष यहाँतक आनेका भी कष्ट कर सकें तो यथाशक्ति यात्राव्ययादि भी समर्पण करूँ। वे प्रथम 'कल्याण'-कार्यालयद्वारा ग्राहक-संख्या १६०३०से पत्रव्यवहार करनेका कष्ट करें। कृपापत्र मिलनेपर मैं फिर सीधा पत्र-व्यवहार करूँगा। मैं अपने सांसारिक कार्योंमें तुरंत ही हानि पहुँचनेकी सम्भावनासे अपना नाम-पता इस स्थलपर देनेमें असमर्थ हूँ। कोई भी सहज बुद्धियुक्त पुरुष इसको शीघ्र समझ लेगा कि यह तो संसार है।

पढ़ो, समझो और करो*

(१)

'हरिःशरणम्' मन्त्रसे भीषण रोगनाश

कलकत्तेकी कुछ समय पहलेकी घटना है। उस समय कलकत्तेमें प्रतिवर्ष प्लेगका प्रसार होता था और उससे हजारों मनुष्य मरते थे। एक बड़े शिक्षित धनी बाबूको प्लेग हो गया। वे धनके साथ ही संस्कृत-ज्ञान और भगवान्की भक्तिसे भी सम्पन्न थे। अपने घरमें अकेले थे। स्त्री-पुत्रादि कोई न थे। नौकर-चाकर आदि सब काम करते थे। एक बहुत बड़े अनुभवी प्रख्यात डाक्टर देखने आये। बहुत जोरका ज्वर था। दोनों ओर गिल्टियाँ थीं। संनिपात आरम्भ हो गया था। डाक्टर कह गये थे कि रात्रिको किसी समय उनका प्राणान्त हो जायगा। उक्त सज्जनने अपने विश्वासी सेवकको बुलाकर गङ्गाजलसे गमछा भिगवाया और उससे सारा बदन पोंछवा लिया। कपड़े बदल लिये, भगवान् श्रीकृष्णका एक चित्र सामने रखवा लिया और तीनों ओर तकिये लगाकर वे बैठ गये। नौकरसे कह दिया कि बाहरसे किवाड़ बंद कर दो और, तुम बाहर सो जाओ। या तो मैं खुलवाऊँ तब किवाड़ खोलना। मैं न खुलवाऊँ तो सूर्योदय होनेपर तुम खोल लेना। मर गया होऊँ तो अन्त्येष्टि-संस्कारकी व्यवस्था सब परिवारवालोंको समाचार देकर करा देना।' नौकरने किवाड़ बंद कर दिये और बाहर बैठकर वह प्रातःकालकी प्रतीक्षा करने लगा।

प्रातःकाल सूर्योदयसे दो घंटे पूर्व लगभग चार बजे अंदरसे आवाज आयी। नौकरने किवाड़ खोले। मालिकने कहा—'गङ्गाजीपर जाकर सौ ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दे आओ और रसोइयोंको बुलाकर बढ़िया रसोई बनवाओ। दस बजेसे पूर्व ही ब्राह्मण-भोजन करवाना है।' उस समय उनका ज्वर उतर चुका था। गिल्टियाँ बैठ गयी थीं। कहीं कोई दर्द न था।

नौकरने आज्ञानुसार सारी व्यवस्था कर दी। ब्राह्मणभोजन हो गया। उधर डाक्टर महोदयको पता लगानेपर जब ज्ञात हुआ कि रोगी अभी जीवित है, तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने निर्णयपर उनको पूरा विश्वास था। ऐसा रोगी दो-तीन पहरसे अधिक जी नहीं सकता, यह उनका निश्चय था। वे इनसे बहुत प्रेम करते थे, अतएव स्वयं देखने आये। आकर साश्चर्य देखते हैं कि विधिवत् स्नान-संध्या किये हुए उक्त सज्जन पट्टवस्त्र पहने आसनपर बैठे हैं। ब्राह्मण-भोजनका यज्ञशेष चौकीपर चाँदीकी थालीमें परोसा हुआ है और वे स्वाभाविक रूपमें उसे पा रहे हैं। डाक्टर महोदयने पूछा—'[illegible] किसकी सम्मतिसे

* इसमें अन्तिम तीन घटनाएँ 'अखण्ड अ[illegible] लेखकों तथा पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना है कि वे इस प्रकारकी [illegible]

सम्पादक

खा रहे हैं ?’ बाबूने कहा—‘जिनकी दवासे प्लेग छूमन्तर हो गया, उन्हींकी आज्ञासे प्रसाद पा रहा हूँ ।’ निपुण डाक्टरको यहाँ भी भ्रम हो गया । उन्होंने समझा कि बाबू संनिपातमें यह सब कर रहे हैं । वे जाते समय सेवकोंसे सावधान रहनेके लिये कह गये ।

पर बाबू तो रोगमुक्त हो चुके थे । तीन-चार दिनों बाद डाक्टरसाहबने आकर बाबूसे पूछा—‘आपने किन चिकित्सकसे क्या दवा ली, यह बताइये ।’ बाबू डाक्टर महोदयको ऊपर उसी कमरेमें ले गये, जिसमें वे उस दिन थे । वहाँ डाक्टरसाहबको कुर्सीपर बैठाकर वे पलंगपर बैठ गये और कहने लगे—“डाक्टर महोदय ! आप उस दिन कह ही गये थे कि रातको प्राणान्त हो जायगा । आपके जानेके पश्चात् मुझको श्रीमद्भागवतके माहात्म्यका वह प्रसङ्ग याद आ गया, जिसमें श्रीनारद-जीने सनकादिसे कहा है कि ‘आप इसीसे चिरजीवी बालक बने हुए हैं कि आप निरन्तर हरिः शरणम् मन्त्रका जप करते रहते हैं ।’ मैंने सोचा प्राणान्त तो होना ही है, मैं भी भगवान्‌के शरण होकर ‘हरिः शरणम्’ मन्त्रका जप क्यों न करूँ—सम्भव है सनकादिको नित्य-बालक रखनेवाले इस मन्त्रसे मेरे प्राण न जायँ और यदि प्राण गये भी तो भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही जायँगे । दोनों ही प्रकारसे लाभ है । यह सोचकर मैंने गङ्गाजलसे शरीर शुद्ध करके शुद्ध रेशमी वस्त्र पहन लिये और भगवान् श्रीकृष्णके चित्रको सामने रखकर ‘हरिःशरणम्’ मन्त्रका जप करने लगा । कुछ ही समय-में मन तन्मय हो गया । मुझे बाहरकी सुधि नहीं रही । भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान होने लगा । जब बाह्यचेतना हुई, तब देखा कि शरीर हल्का हो गया है, ज्वर नहीं है, गाँठें बैठ गयी हैं, पूर्ण स्वस्थता आ गयी है । उस समय चार बजे थे । तब मैंने ब्राह्मणभोजनकी व्यवस्था करायी । आप पधारे थे, उस समय सब ब्राह्मण भोजन कर चुके थे और मैं भ[illegible] प्रसाद पा रहा था ।”

‘हरिःशरणम्[illegible] उनमें, उनको याद [illegible]

तुरंत ही नाश [illegible]

इस प्रत्यक्ष चमत्कारको देखकर डाक्टर चकित हो गये ।

(२)

अनोखी उदारता

कई वर्षों पूर्वकी कलकत्तेकी घटना है । शेयर बाजारके एक प्रमुख व्यापारी फर्मके तीस हजारके शेयर चोरी हो गये । पता लगनेपर पुलिसमें रिपोर्ट दे दी गयी और कम्पनीको लिख दिया गया कि ‘हमारे अमुक संख्या-के शेयर खो गये हैं । अतः नामपरिवर्तनके लिये कम्पनी-में आयें तो नाम-परिवर्तन न करके हमें सूचना दें ।’

कुछ दिनों बाद नाम-परिवर्तनके लिये शेयर कम्पनी-में आये । कम्पनीने सूचना दी । पता लगाया गया कि किस-किसके हाथोंसे होते हुए शेयर कम्पनीमें आये हैं और सबसे पहले कहाँसे चले हैं । खोज करनेपर पता लगा कि सबसे पहले उस व्यापारी फर्मके रोकड़ियेके द्वारा ही शेयर गये हैं । फर्मके स्वामीको सूचना दी गयी । उन्होंने पुलिसको खबर देने या रोकड़ियोंको बुलाकर डाँटनेके बदले तुरंत कम्पनीको पत्र लिखवा दिया कि ‘हमारे शेयरोंका पता लग गया है । आप नाम-परिवर्तन कर दें ।’ और पुलिसको शेयर मिल जानेकी खबर भेज दी गयी ।

व्यापारी महोदयके प्रधान मैनेजरने कहा—‘बाबू-जी ! उसे पकड़वाइयेगा नहीं ।’ वे बोले—‘तीस हजार रुपयोंके लिये एक गृहस्थका जीवन बर्बाद कर दें ? उसके घरमें दस आदमी हैं, वे क्या खायेंगे ? उसने किसी विपत्तिमें पड़कर ही ऐसा काम कर लिया है ।’ पर व्यापारी महोदय जहाँ इतने परदुःखकातर और दयाशील थे, वहीं बड़े व्यापारकुशल भी थे । उन्हें उक्त रोकड़ियेकी दीन दशापर दया आयी, साथ ही उसे रोकड़के काम-पर रखना उचित भी नहीं समझा—इसलिये कि कहीं फिर ऐसा न कर ले । उन्होंने दो-एक दिन बाद रोकड़ियेको बुलाकर उससे पूछा—‘तुम्हारा कितना वेतन है, भैया ?’ ‘सौ रुपये ।’ उसने कहा । ‘सौ रुपयेसे [illegible]काम चलता होगा ?’ व्यापारी महोदयने कहा ।

[illegible] ही रहती है, बाबूजी !’ रोकड़ियेने रोते हुए-

की तरह कहा। व्यापारी महोदय बोले—'अच्छा! देखो, रोकड़के काममें तो वेतन बढ़ाया नहीं जा सका। तुम अमुक दूसरे कामको सँभालो। आजसे तुम्हारा वेतन डेढ़ सौ रुपये कर दिया गया।' व्यापारी महोदयने शेयरोंके बाबत उससे एक शब्द भी नहीं कहा। इस उदारताको देखकर सब लोग दंग रह गये।

(३)

गोदुग्ध अमृत है

मैं एक ऐलोपैथिक चिकित्सक हूँ। मेरे पास एक महिला, जो सरकारी कर्मचारिणी हैं, इलाजके लिये आयीं। इन्हें सभी अच्छे डाक्टरोंने एक्सरेद्वारा तथा स्वयं मैंने भी तपेदिककी बीमारी बतायी, जिसमें दोनों फेफड़ोंमें व्रण हो गये थे। कई एक अस्पतालोंने तो उन्हें आखिरी स्टेज होनेके कारण भरती भी नहीं किया और घरपर जाकर मरनेकी अनुमति दी।

वे निराश होकर मेरे पास आयीं और बोलीं—'मेरा शरीर सैकड़ों, करीब तीन सौ इनजेक्शनोंसे जर्जर हो गया है और खर्च तथा गरीबीके कारण मेरी नाकमें लौंग भी नहीं रह गयी है।' मेरा हृदय भी उनकी दुर्दशा देखकर द्रवित हो गया। मैंने भगवत्-स्मरण किया और प्रार्थना की—'भगवन्! इनका कष्ट अवश्य दूर हो।' उनकी प्रेरणासे मैंने उन्हें गायका दूध, जितना पी सकें, पीनेको कहा तथा दो दवाइयाँ खानेको बतायीं। उन्होंने एक गाय खरीदकर उसकी सेवा करना शुरू किया तथा एक सेर दूध प्रातः, एक सेर संध्याको पीने लगीं। १५ दिनोंके भीतर उनका स्वास्थ्य काफी सुधर गया तथा बुखार-खाँसी सब गायब हो गये। दो मासमें वे बिल्कुल स्वस्थ हो गयीं और अबतक सरकारी काम कर रही हैं। बीमारीसे पहले उनके तीन पुत्रियाँ थीं। उसके बाद उनके एक पुत्र-रत्न हुआ, जो पूर्ण स्वस्थ है।

यह है गौ माताकी कृपा तथा उनके दूधका मह[illegible]

मैंने जिन-जिन भीषण रोगोंके रो[illegible] दिया, वे सब स्वस्थ हो गये, खास तौ[illegible]

समस्त वैद्यसमुदाय तथा ऐसे रोगियोंसे प्रार्थना है कि वे इसका अनुभव करें और लाभ उठायें।

—डा० श्याममोहन कपूर

(४)

दरिद्रता और मनुष्यता

मानवके लिये दरिद्रता एक अभिशाप है। एक उच्चकुलोत्पन्न मनुष्य भी इस पिशाचिनीके हथकंडेमें पड़ किंकर्तव्यविमूढ़ और पथभ्रष्ट हो जाता है, एवं कुलको बट्टा लगानेवाले, अशोभनीय कुकर्म कर बैठता है। यह सब विधिकी विडम्बना है। ऐसी ही एक घटना गत दीपावली-से पहली दीपावलीके ठीक चार दिन पहले अर्थात् ता० २९। १०। ५६ को हमारे यहाँ घटी। शामके साढ़े सात बजे होंगे। दीपावलीकी सज-धजके लिये सफाई की जा रही थी, सामान सब इधर-उधर बिखरा पड़ा था। सब अपने-अपने काममें लगे हुए थे। मैं भी बाबुलनाथके दर्शन करके पेढ़ीपर आया ही था कि अचानक एक अजीब दृश्य मेरी आँखोंके सामने आया। देखता क्या हूँ कि हमारा पटेल रघुवीर एक अज्ञात नौजवानसे सीढ़ियोंके पास छीना-झपटी कर रहा है। पटेल कह रहा था कि मेरे देखते तू यहाँसे दरी चुराकर नहीं ले जा सकता। हम सबका ध्यान तुरंत ही उधर गया। वह मनुष्य इकहरे बदनका, श्यामवर्ण, स्वच्छ एवं नवीन वस्त्र धारण किये, पैरमें नयी चप्पल पहने, बालोंमें कंघा किये, विषपूर्ण कनक-घटके समान वाणीमें अमृतका मिठास भरे हुए था। आधुनिक हिंदीमें बोल रहा था।

इतनेमें ही बड़ी बहादुरीसे उसे हमारा पटेल पेढ़ीके अंदर ले आया और चारों ओरसे उसपर थप्पड़ और मुक्कोंकी बौछारें होने लगीं। कारण स्पष्ट था कि वह रँगे हाथों पकड़ा गया था। उसने एक बड़ी खासा लंबी-चौड़ी दरी, जिसकी कीमत आजके दिन कम-से-कम [illegible] होगी, [illegible]रायी थी।

[illegible] अङ्क २ [illegible]कर उसने झूठी [illegible]ठ कैसे चल

सकता था। जो भी आया, सबने अपनी सामर्थ्यभर उसे धिक्कारें दीं और कुछने गालियाँ बककर अपने कर्तव्यकी इति-श्री समझी। चित्त लेटकर मार खाते हुए ही करबद्ध उसने सभीसे विनती करके अपनी दयनीय दशाको चित्रित करनेका मिथ्या प्रयास किया।

वह कहता ही गया—'मुझे मारो, खूब मारो; मैंने यह जघन्य, निन्दनीय कुकर्म किया है—चोरी की है! मुझे पता है कि मैंने बुरा काम किया है, दूसरेकी वस्तु चुरानेकी अनधिकार चेष्टा की है; किंतु यह सब इस पापी पेटके लिये। मेरे बच्चे, स्त्री—सब भूखे पड़े बिलख रहे हैं। अन्य कोई उपाय न देखकर मुझे इस दुष्कर्मकी ओर झुकना पड़ा। मैं भी एक उच्च मुल्तानी घरानेमें उत्पन्न हुआ, पढ़ा-लिखा व्यक्ति हूँ; एक अच्छे फर्ममें काम कर रहा था। पर दुर्भाग्यवश मैं वहाँसे हटा दिया गया। अब बेकार इधर-उधर कामकी तलाशमें फिरता रहा हूँ। निराश होकर पेटकी नित्यप्रतिकी ज्वाला-की पूर्तिके लिये मैंने आज यह काम किया है।'

किसीने आवाज दी—'पुलिसमें दे दो!' 'मैं बहुत लाचार हूँ, मुझे पुलिसमें मत दो; मेरे निर्दोष बच्चोंकी ओर देखो, उनपर दया करो.......मैं आपके पैरों पड़ता हूँ, ईश्वरकी शपथ, मुझे पुलिसमें मत दो।' मैं उसके करुण-क्रन्दनको सुनकर अवाक्, स्तब्ध खड़ा रह गया। क्रोध दयामें बदल गया। मैंने पेढ़ीवालोंसे कहा—'अच्छा हो, आप सेठजीको इस घटनासे अवगत करा दें और उनके आज्ञानुसार कार्य करें।' सेठजीको फोन-पर सभी घटित बातें बतलायी गयीं। क्षमाशील, कृपालु हमारे सेठजीने घटित बातोंपर पर्दा डालते हुए तुरंत उत्तर दिया—'जाने दो; उससे कहो कि आगे ऐसा कुकर्म न करे, मजदूरी करके पेट पाले....।'

उस भूखे नादानने ईश्वरकी शपथके साथ इसे स्वीकार किया। पर मैं [illegible] ही सोच रहा था।" उसने पेटकी [illegible] उनमें, उनको याद रखनेके [illegible] वचनोंका ध्यान [illegible] ही रहती [illegible]

अपराधीके प्रति सही दण्ड या आदर्श बदला नहीं था? कौन ऐसा समझदार व्यक्ति होगा, जो उनकी मानवीयताकी सराहना किये बिना रह जाय।

—बाबूलाल बसावेका 'साहित्यरत्न'

(५)

कलेजेके आँक

गणेश-चतुर्थीका दिन था। सबेरे लगभग आठ बजे थे। हाथ-मुँह धोकर सब चाय-पानीकी तैयारीमें लगे थे कि बाहरसे आवाज आयी। भाई साहबने जाकर दरवाजा खोला, देखते हैं दो बैलोंकी रास हाथमें लिये एक चिथड़ेहाल ग्रामीण बाहर खड़ा है।

'कैसे हो, भैया?' दरवाजा खोलनेवाले भाई साहबसे बूढ़े ग्रामीणने पूछा। 'सब ठीक है।' संक्षेपमें ही भाई साहबने उत्तर दे दिया।

ब्याजबट्टेका धंधा करनेवाले हमारे पिताजीके जीवनकालमें ऐसे कितने ही ग्रामीण हमारे यहाँ आया करते। इस बूढ़ेका आना भी कोई नयी बात नहीं थी, परंतु बैलोंकी जोड़ीको साथ देखकर कुछ नयी-सी बात लगी।

बैलोंको बाहर बाँधकर धीरे-धीरे बूढ़ा भीतर आया और देहलीके पास बैठकर बोला—'भैया! बड़े बाबू मरते समय हमारे विषयमें कुछ कह गये थे क्या?'

पिताजीकी मृत्यु अचानक हृदयकी गति रुक जानेसे हुई थी; इस छोटी-सी बातकी तो चर्चा ही क्या, बड़ी-बड़ी महत्त्वकी बातें बिना बताये रह गयी थीं। अतएव भाई साहबने कहा—'बड़े बाबूने तो तुम्हारे बाबत कुछ नहीं कहा।'

'उनके बहीखातोंमें कोई लिखावट है?' फिर बूढ़ेने पूछा।

भाई साहबने तुरंत पिताजीके सब बहीखातोंको देख डाला, कहीं बूढ़ेके नामका कोई लेनदेन लिखा [illegible] मिला। अतः उन्होंने कहा—'इनमें तो कहीं [illegible] नाम चलता नहीं है।'

[illegible] होकर धीरेसे बोला—'भले भैया!

बड़े बाबू खातेमें लिखना भूल गये । पर मैंने अपने कलेजेपर लिख रखा है । ये कलेजेके आँक कैसे मिट सकते हैं । तुम तो, भैया, तब शहरमें पढ़ते थे, तुमको क्या पता । पर नहीं, परियार साल इसी गणेश चौथके दिन माँका कारज करनेके लिये मैं बड़े बाबूसे पाँच सौ रुपये ले गया था और इस साल गणेशचौथके दिन ब्याजसमेत कुल पाँच सौ और पचास रुपये लौटानेका मैंने वादा किया था । बड़े बाबू तो भगवान्के घर पहुँच गये, पर मेरा वादा थोड़े ही भगवान्के घर पहुँच गया । मुँहके बैन क्या कभी पलट सकते हैं ?'

'न दस्तावेज, न लिखा-पढ़ी और न बहीखातोंमें कहीं उल्लेख । कानूनके अनुसार कोई भी प्रमाण नहीं, इतनेपर भी यह ग्रामीण बूढ़ा केवल मुँहकी बातपर पाँच सौ ही नहीं, ब्याजके पचास रुपये जोड़कर पाँच सौ पचास दे रहा है और वह भी जिनसे लिये थे, उन बाबूको नहीं, उनके उत्तराधिकारीको । जिला अदालत, हाईकोर्ट, सुप्रीमकोर्ट और कायदे-कानूनके इस जमानेमें यह घटना कितनी आश्चर्यजनक है ।

'खूनी निर्दोष ठहरे और निर्दोष फाँसी चढ़े । लाखोंकी लूट लोप हो जाय और पावरोटी चुरानेवाला जेल जाय । कागजका टुकड़ा जो कहे, वह हो । मनुष्य तो मानो मनुष्य ही नहीं रहा । आँखोंदेखी बात झूठी साबित हो और कभी कल्पनामें भी न आनेवाली बात सच्ची सिद्ध हो । कानूनकी दुनिया ही निराली है । झूठ, प्रपञ्च, अनीति और अनाचारका आश्रय लेकर कानूनके पंजेसे छिटक जानेवाला चालाक और प्रवीण माना जाय । जो वकील अधिक मात्रामें झूठ बोल-बुला सके, वह होशियार बतलाया जाय । सत्य तो मानो धरतीके उस पार ही जा छिपा । चार आने पैसोंके कानूनके अनुसार सही सिक्के बनें—बस, मनुष्यका इतना भी मूल्य नहीं । यह है आजकी [illegible] और बस, यही है सुधार !' भाई साह[illegible] सागरमें डूब गया ।

'भैया ! इन बैलोंको कहाँ बाँधूँ ?'—बैलोंकी रास खींचते हुए बूढ़ेने पूछा ।

विचारसागरमें डूबे भाई साहब कुछ कहें—इसके पहले ही बूढ़ेने फिर कहा—'यह मेरा मतवाली चाल चलनेवाला—अभी पिछले साल ही एक सिंधीसे सौ-सौ रुपयेके तीन ढेर लगाकर इसे लिया था और इस ललमुँहेको बीस मन बिनौले और दस मन गेहूँ देकर धन्ना सेठसे लिया था ।' यों कहते-कहते बूढ़ेका गला भर आया, आँखें छलछला उठीं । मानो पैर टूट गये हों, वह वहीं ढुलक पड़ा । मालिकको संकटमें समझकर बैल उसे चाटने लगे । बूढ़ा भी धीरे-धीरे बैलोंको थपकाने लगा । तुरंत ही सारी हिम्मत बटोरकर बूढ़ा खड़ा हो गया और चौखटके पास पड़ी हुई अपनी लाठी हाथमें लेकर भाई साहबसे 'जैरामजी की' करके चलते-चलते कहता गया—

'भैया ! घबराना मत; बड़े बाबू नहीं हैं, पर उनका यह पुराना चाकर अभी जी रहा है । बड़े बाबूने मेरे बहुत ढाँकन ढके थे । उनका गुण कैसे भूला जा सकता है । इन बैलोंकी कीमत साढ़े पाँच सौसे कम नहीं है । तो भी अगर पाँच सौ पचाससे कम रुपये उठें तो मुझे सँदेसा भिजवा देना, मैं अपने हल और खेत बेचकर भी पूरा कर्जा भर दूँगा ।'

इतना कहकर बूढ़ेने अपने सगे पूत-सरीखे बैलोंकी ओर एक नजर डाली और चल दिया । उसके डग-डगपर हृदयकी वेदना बोल रही थी ।

—श्रीजयन्ती साह

(६)

रूसी महिलाकी सज्जनता

मेरे एक मित्रके कपड़ेकी दूकान है, यह प्रसङ्ग [illegible]ोंमें लिख रहा हूँ—
[illegible]ने बहुत-सा [illegible]क स्वेटरकी

भी आवश्यकता थी । उन्हें वैसा स्वेटर बाजारमें नहीं मिला था । उन्होंने हमसे अनुरोध किया कि 'आर्डर देकर एक स्वेटर मँगवा दें ।' मैंने पंद्रह दिनों बाद स्वेटर ले जानेको कहा ।

ठीक पंद्रहवें दिन रूसी महिला आयीं । उन्हें देखकर मेरे होश उड़ गये; क्योंकि मैं उस बातको बिल्कुल भूल ही गया था । मैंने विनयपूर्वक सच्ची बात समझाकर कह दी । उन्होंने कुछ नाराज होते हुए कहा—'क्या तुम इंडियन मैन ! हमको दो-चार जगहसे ऐसा ही मौका मिला है ।' मुझे दुःख और क्षोभ दोनों हुए । मैंने अब निश्चय ही मँगवा देनेको कहा और फिर पंद्रह दिन बाद आनेका अनुरोध किया । इन पंद्रह दिनोंमें मैंने कम्पनीके साथ पत्र-व्यवहार किया । कम्पनीको स्वेटरके सम्बन्धमें कुछ पूछना शेष रह गया था, अतः ठीक पंद्रहवें दिन स्वेटर नहीं आ सका ।

पंद्रहवें दिन महिला फिर आयीं । मैंने अपनी परिस्थिति उनको समझा दी, उन्होंने मान लिया ।

दो-तीन दिन बाद वे फिर मेरी दूकानपर आकर कहने लगीं—'मैं रूस जा रही हूँ । मेरे पतिकी अकस्मात् मृत्यु हो गयी । मुझे यहाँ कोई खास काम नहीं था, केवल स्वेटरके लिये ही आपसे मिलने आयी हूँ । क्या स्वेटर आ गया ?'

मैंने उनके पतिकी मृत्युके लिये दुःख प्रकट करते हुए कहा—'स्वेटर अभी नहीं आ सका है ।'

उन्होंने कहा—आपने आर्डर तो दे ही दिया, पैसे ले लीजिये । मैंने इनकार करते हुए कहा—'आर्डर कैन्सिल हो सकेगा ।' वे मेरी बातपर सहमत नहीं हो सकीं । बीस रुपये मेरी टेबलपर फेंककर वे सज्जन महिला तेजीके साथ सीढ़ियों[illegible] मैं उनकी सज्जनता[illegible] पा रहा था ।"

(७)

हककी छाछ

जेठका महीना है । भीषण गरमी पड़ रही है । जहाँ दुधारू गायें भी सूख गयी हों, वहाँ दूध तो क्या, छाछका मिलना भी कठिन है । इसी समय हमारे गाँवमें एक गृहस्थने छाछका सदावर्त खोला । छाछ गाँवका जीवन है । अतः इस छाछ-सत्रकी बड़ी प्रशंसा हुई । सब ओर आशीर्वाद मिलने लगे ।

हमारे पड़ोसमें एक कोलीका घर है । उस घरकी बहिन एक दूसरे पड़ोसीके यहाँसे छाछ लाती और बदलेमें पड़ोसीके पानी भर देती, अनाज पीस देती अथवा गोबर थाप देती ।

एक दिन मैंने उससे कहा—'बहिन ! तुम सदावर्तकी छाछ क्यों नहीं लाती ? वह तो बहुत गाढ़ी और अच्छी होती है । हम भी लाया करते हैं, फिर तुम्हें क्या आपत्ति है ?'

'भाई ! बड़ी भारी आपत्ति है । वह धर्मादा है । उसका पावभर पानी भी हकका नहीं है । मेहनत किये बिना खायें तो प्रभु राजी न हों । थोड़ा-बहुत काम करनेपर पतली छाछ भी मिल जाय तो अच्छा है । वह पेटमें पचेगी और लाभ करेगी ।'

उस बहिनकी बात सुनकर मैं दंग रह गया । इस बहिनको अज्ञान कैसे कहें । बहुत लोग कोली स्त्रियोंको मूर्ख—अबोध मानते हैं; परंतु उनका सिद्धान्त कितना ऊँचा है—यह जाननेका किसीको अवकाश नहीं है ।

मेरा अहं टूट गया और बिना परिश्रमके ग्रहण करना पाप है—इस सूत्रको जीवनमें उतारनेवाली [illegible] मुझको सचोट बोध प्रदान किया, प्रेरणा दी ।

—इच्छाशंकर पंड्या

श्रीहरिः

चार नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयीं !!

श्रीमन्महाभारतम् (मूलमात्रम्, तस्य तृतीयो भागः)

(कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री और शान्तिपर्व)

आकार २२×३० आठपेजी, तीस पौंडके मोटे कागज, पृष्ठ-सं० ७५६, चार सुन्दर बहुरंगे और एक सादा चित्र, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ६), डाकखर्च २)।

पूरे महाभारतका मूल पाठ क्रमशः प्रकाशित करनेकी योजनाके अन्तर्गत प्रथम भागमें आदि, सभा और वन—ये तीन पर्व तथा द्वितीय भागमें विराट, उद्योग, भीष्म और द्रोण—ये चार पर्व दिये जा चुके हैं। इस तीसरे भागमें कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री और शान्ति—ये पाँच पर्व हैं। शेष ६ पर्व भी यथासमय निकल ही सकते हैं। जिन्होंने दो भाग लिये हैं, वे इसे भी मँगवानेकी कृपा करें। शान्ति-पर्वकी तो विशेषता है ही।

मार्क्सवाद और रामराज्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

आकार डिमाई आठपेजी, ग्लेज कागज, पृष्ठ-सं० ८१६, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ४), डाकखर्च १॥=)।

अभीतक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं, जिसमें प्राच्य और पाश्चात्त्य आधारभूत सिद्धान्तोंका इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया हो। केवल कम्युनिष्ट भाई ही नहीं, पाश्चात्त्यदर्शनके सभी विद्वान् यह पुस्तक पढ़कर सत्यका अन्वेषण करनेमें अग्रसर हो सकते हैं। इस एक ही पुस्तकमें इतनी अधिक सामग्री आ गयी है कि इसे दर्शन और राजनीतिका 'विश्वकोष' कहना भी अनुपयुक्त न होगा।

सटीक सूरसागरके पदोंके खण्डशः प्रकाशन-योजनाकी चौथी पुस्तक

श्रीकृष्ण-माधुरी (सरल भावार्थसहित)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ २८८, सचित्र, मूल्य १), सजिल्द १।=), डाकखर्च ॥।=)।

इसमें श्रीकृष्णके माधुर्यपरक लगभग साढ़े तीन सौ चुने हुए पदोंका समावेश है, जो काव्य-कला एवं भावकी दृष्टिसे अनुपमेय हैं। आरम्भके १४४ पदोंमें श्रीकृष्णकी विविध मधुर झाँकियोंके दर्शन होते हैं और आगेके पदोंमें मुरलीकी अलौकिक माधुरीका वर्णन है। सूरदासजीकी मुरली विषयक उक्तियाँ हिंदी-साहित्यमें बेजोड़ हैं। प्रेमी पाठक इस संग्रहका भी समुचित समादर करेंगे, ऐसी आशा है।

गोविन्दवैभवम् (भट्ट मथुरानाथजी शास्त्री प्रणीत)

(लेखककी स्वरचित संस्कृत-टीका एवं भाषानुवादसहित)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ २७६, एक बहुरंगा तथा दो सादे सुन्दर चित्र, मूल्य १), सजिल्द १।=); डाकखर्च ॥।=)।

यह ग्रन्थ आदिसे अन्ततक भक्ति-रससे ओतप्रोत है। इसकी रचनामें प्रसाद, माधुर्य, शब्दालंकार एवं अर्थालंकार आदि सभी काव्यगुणोंकी छटा देखनेको मिलती है। इसके प्रत्येक पद्यमें अन्त्यानुप्रासका बड़े ही सुन्दर ढंगसे नि[illegible] है। इसमें भगवान् गोविन्दके लोकाभिराम वैभवका उत्कृष्ट दिग्दर्शन है [illegible] ीय है।

अङ्क २

[illegible] खपुर)

रजि० सं० ए० १७५

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका चैत्र सुदी ५ दिनाङ्क २९ मार्चके लगभग ऋषिकेश, गीता-भवनमें पहुँचनेका विचार है। सदाकी भाँति उनका आषाढ़ शुक्ला १५ तक तो वहाँ ठहरनेका विचार ही है। सत्सङ्गके लिये आनेवाली स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके आदमीको साथ लिये बिना अकेले नहीं आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लायें, जो उन्हें अलग निवासस्थानपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना कठिन है।

श्रीरामचरितमानस (मूल-मोटा टाइप, पाठभेदवाली)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ८००, सुन्दर तिरंगा चित्र, मू० ३), डाकखर्च १॥=)।

इस तीसरे संस्करणमें मूल्यमें ॥) कमी कर दी गयी। पहले ३॥) था, वह घटाकर ३) कर दिया गया। पाठके टाइप उतने ही बड़े हैं। इस प्रतिमें पाद-टिप्पणीमें प्राचीन तथा अर्वाचीन मानसकी इक्कीस खास-खास प्रतियोंके पाठ-भेद दिये गये हैं। भूमिका एवं मानस-व्याकरण देकर मानसके पाठपर विशेषरूपसे प्रकाश डाला गया है।

विक्रम-संवत् २०१५ का गीता-पञ्चाङ्ग

(सम्पादक—ज्यौतिषाचार्य ज्यौतिषतीर्थ पं० श्रीसीतारामजी झा, काशी)

आकार २४×३० आठपेजी, ग्लेज कागज, पृष्ठ ६४, सुन्दर टाइटल, मू० ।≡) मात्र। बुकपोस्टसे मँगानेपर डाकखर्च ≡), कुल ॥=)। वी० पी० मँगानेपर रजिस्ट्रीखर्चसहित १≡)। एक साथ अधिक मँगानेसे खर्च कम पड़ेगा।

सं० २०१४ के पञ्चाङ्गके तीन-तीन संस्करण छापनेपर भी अनेक लोगोंको निराश होना पड़ा। इस बार पञ्चाङ्गमें पञ्चाङ्गोपयोगी सूचनाओंके अतिरिक्त साधारण व्यवहारोपयोगी रेलभाड़ा, पार्सल तथा लगेजका भाड़ा, डाक-तार तथा इनकमटैक्स-सुपरटैक्सकी दरें आदि अनेक उपयोगी बातें भी दी गयी हैं। पचास हजार प्रतियोंके दो संस्करण समाप्त हो जानेपर पंद्रह हजारका तीसरा संस्करण छपा था, जिसमें थोड़ा ही बचा है; अतः जिन्हें लेना हो, वे शीघ्रता करनेकी कृपा करेंगे।

'कल्याण' नामक हिंदी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

१—प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२—प्रकाशनकी अवधि—मासिक

३—मुद्रकका नाम—घनश्यामदास जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
पता—साहबगंज, गोरखपुर

४—प्रकाशकका नाम—घनश्यामदास जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
पता—साहबगंज, गोरखपुर

५—सम्पादकका नाम—(१) श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार
(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्०ए०, शास्त्री
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय
दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६—उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। — श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता—नं० ३०, बाँसतल्ला गली, कलकत्ता (सन् १८६० के विधान २१ के अनुसार रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं, घनश्यामदास [illegible] घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी [illegible]

घनश्यामदास जालान
प्रकाशक